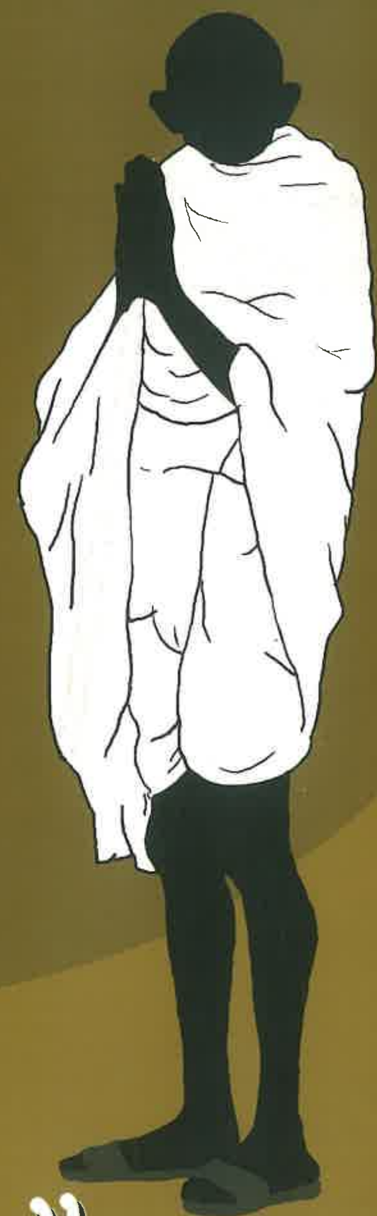


निहत्था पैगम्बर

सच्चिदानन्द सिन्हा

अनुवाद : रामजय प्रताप

निहत्था पैगम्बर

सच्चिदानन्द सिन्हा

अनुवाद
रामजय प्रताप

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
राजघाट, नयी दिल्ली-110002

प्रकाशन वर्ष 2014

प्रथम संस्करण 1100 प्रतियाँ

आईएसबीएन – 978-93-84155-04-9

प्रकाशक
गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
राजघाट, नयी दिल्ली-110002
फोन : 011-23392710, 23392709

5, तीस जनवरी मार्ग, नयी दिल्ली-110011
ई-मेल : 2010gsds@gmail.com

मूल्य : ₹ 100.00

आवरण
सीताराम

मुद्रक
दीप कलर स्कैन (प्रा) लि.
फ्रैन्ड्स कॉलोनी इंडस्ट्रीयल एरिया, दिल्ली-95

प्रकाशकीय

मानवीय नैतिकता का चरम आदर्श

महात्मा गांधी हमारी तरह ही हाड़-माँस से बने इनसान थे। लेकिन उनमें अखिल विश्व के प्रति व्यापक कर्त्तव्यबोध था। उनके चिन्तन और कर्म में पूरी मानवता के उद्धार की चिन्ता निहित थी।

जितने ऊँचे उनके आदर्श थे उतना ही ऊँचा उनका कर्म था। उन्होंने अपने हरेक कार्य से सत्य, अहिंसा और प्रेम की मिसाल स्थापित की। पवित्र उद्देश्यों के लिए साधन भी पवित्र होना चाहिए ऐसा उनका विश्वास था। अतिभोग की आखिरी मंजिल हिंसा होती है। उन्होंने स्पष्ट किया कि हिंसा और अतिभोग हमारा भविष्य नहीं हो सकते। उनके लिए सभ्यता का सच्चा अर्थ अपनी इच्छाओं का स्वेच्छा से परित्याग करना था, न कि बढ़ाना। वस्तुतः सादगी को उन्होंने सार्वभौमिकता का सार समझा और प्राणिमात्र के बीच परस्परता देखी। इसी कारण उन्होंने व्यक्तिगत जीवन के मूल्य नहीं, बल्कि सार्वजनिक जीवन के मूल्य बनाने की बात कही।

वह हमारे स्वतन्त्रता संग्राम के अगुआ थे। लेकिन सम्पूर्ण विश्व के प्रति उदात्त दृष्टि उन्हें एक राष्ट्रीय नेता के साथ-साथ पूरी दुनिया का पथ प्रदर्शक बना देती है। मानवीय नैतिकता के चरम आदर्श के रूप में सत्य के साथ उन्होंने अहिंसा को जिस तरह स्थापित किया, पहले शायद कभी देखने में नहीं आया कि मानवीय नैतिकता के चरम आदर्श का यह रूप सामाजिक न्याय की लड़ाई का एक मानवीय हथियार भी हो सकता है।

वरिष्ठ समाजवादी विचारक सच्चिदानन्द सिन्हा की यह पुस्तक गांधीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व के अनूठे पहलुओं की गम्भीर विवेचना करती है। इसमें हम गांधीजी की उस छवि को पाते हैं जो हमें एक बेहतर मानवीय भविष्य की राह दिखलाती है। इस पुस्तक के अनुवाद के लिये रामजय प्रताप सराहना के अधिकारी हैं।

मणिमाला
निदेशक
गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति

अनुवादकीय

कहते हैं, मनुष्य प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है। हालाँकि, यह दावा मनुष्य का है, अन्य प्राणियों ने कभी ऐसा कोई संकेत नहीं दिया जिससे लगे कि मनुष्य सचमुच में सभी प्राणियों से श्रेष्ठ है। मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ धरती पर मनुष्य के कार्य-कलाप इस तरह के होते गए कि अन्य प्राणियों की कौन कहे, मनुष्य मनुष्य का और अन्ततः पूरी प्रकृति का दुश्मन बनता चला गया। आज मानव सभ्यता जिस मुहाने पर खड़ी है वहाँ इस पर चारों तरफ से संकट के बादल मँडरा रहे हैं। सामान्य जन को इन संकटों का आभास नहीं होता है। लेकिन, जो दूरदर्शी और वर्तमान समस्याओं के प्रति संवेदनशील होते हैं, उन्हें इन संकटों का आभास हो जाता है और वे समाज के लोगों को इन आसन्न संकटों से आगाह करते हैं तथा सावधान रहने की सलाह देते हैं। विवेकशील लोग उनकी बात समझ जाते हैं और भरसक प्रयास करते हैं कि उन विलक्षण दूरदर्शी पुरुषों के बताये मार्गों का अनुसरण किया जाए। शायद, अपने इसी विवेक और तर्कशक्ति के आधार पर मनुष्य स्वयं के बारे में प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ होने का दावा करता है। उसमें अच्छे और बुरे का विभेद करने की क्षमता है तथा अपने निर्णय के पक्ष में तर्क जुटाने की शक्ति है और यही चीज है जो उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है। सबसे बढ़कर यह कि मानव समाज में शुरू से ही समय-समय पर ऐसे दूरदर्शी और चमत्कारिक पुरुषों का अवतरण होता रहा है जिन्होंने मनुष्यों को सही रास्ते पर चलने की शिक्षा दी, नैतिकता के साथ अर्थात नैसर्गिक नियमों के अनुसार जीवन जीने का मार्ग बतलाया। हमारे बीच गांधी ऐसे ही दुर्लभ, चमत्कारिक पुरुषों में से एक थे जिन्होंने अपने सत्य के प्रयोगों से हमें सत्पथ पर चलने की प्रेरणा दी।

गांधी के व्यक्तित्व और कृतित्व में अद्भुत आकर्षण है। यही कारण है कि गांधी पर काफी कुछ लिखा गया है; पक्ष में भी और विपक्ष में भी। पूँजीवादी आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के पैरोकार जहाँ गांधी की युक्तियों

को अव्यावहारिक मानते हैं, वहीं सत्य, अहिंसा और न्याय पर आधारित समाज के हामी गांधी की युक्तियों के अनुसरण को ही मानव सभ्यता के अतिजीवन के लिए अनिवार्य मानते हैं। बहरहाल, गांधी ने जीवन में मूल्यों की बात की, नैतिकता का उपदेश दिया। वह अपनी आत्मकथा की प्रस्तावना में अपने वैसे आलोचकों से जिन्हें उनकी आध्यात्मिकता और धार्मिकता को लेकर संशय था, स्पष्ट करते हैं कि 'मेरे प्रयोगों में तो आध्यात्मिक का मतलब है नैतिक; धर्म का अर्थ है नीति; आत्मा की दृष्टि से पाली गयी नीति धर्म है।' और आगे अपने 'सत्य' को भी स्पष्ट करते हैं– 'यह सत्य स्थूल–वाचिक–सत्य नहीं है। यह तो वाणी की तरह विचार का भी है। यह सत्य केवल हमारा कल्पित सत्य ही नहीं है, बल्कि स्वतन्त्र चिरस्थायी सत्य है; अर्थात परमेश्वर ही है।'

यह पुस्तक वरिष्ठ समाजवादी विचारक सच्चिदानन्द सिन्हा की अँग्रेजी पुस्तक 'दी अनार्म्ड प्रोफेट' का अनुवाद है। यह पुस्तक वस्तुत: अस्तित्ववादियों के विमर्श के बीच गांधी को उनके नैतिक पक्ष के समर्थन के साथ स्थापित करने के उद्देश्य से लिखी गयी है। अस्तित्ववादियों का अदृश्य ईश्वर में विश्वास नहीं था, इसलिए वे नैतिक मूल्यों को अस्वीकार करते थे। उनकी विचारधारा के अनुसार मनुष्य दुनिया में अपना मनमाफिक काम करने के लिए स्वतन्त्र हैं और इस तरह का काम जायज है। यह विचारधारा पूरी तरह से अराजकतावाद का मार्ग प्रशस्त करती है। पुस्तक में यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि नैतिक मूल्यों का स्रोत मानवप्राणियों के उन विशिष्ट आनुवांशिक प्रदायों में निहित होता है जो उन्हें एक सांस्कृतिक प्राणी बनाते हैं। नैतिक विचार से सम्बन्धित चीजें समाज में पैगम्बर या नैतिक उपदेशकों के माध्यम से साकार होती हैं। पैगम्बर अपने समय की नीतिगत समस्याओं के प्रति संवेदनशील होते हैं और उनका नैतिक समाधान सुझाते हैं। गांधी के नैतिक उपदेश का काम बिल्कुल पैगम्बरों वाला काम है। लेखक ने पुस्तक में सत्य और अहिंसा के पुजारी गांधी को एक निहत्थे पैगम्बर के रूप में स्थापित किया है। आज वैश्वीकरण के इस युग में जहाँ पूँजीवाद और उपभोक्तावाद काफी मजबूत हो रहा है, प्राकृतिक संसाधनों का बड़े पैमाने पर दोहन हो रहा है, आर्थिक गैर–बराबरी बढ़ रही है, रोजगार के अवसर तेजी से सिकुड़ते जा रहे हैं, राष्ट्रों द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति का ख्याल किये बिना अनावश्यक रूप

से हथियारों का जमावड़ा किया जा रहा है, कमजोर हैसियत वाली छोटी–छोटी चीजों का अस्तित्व खतरे में पड़ता जा रहा है और जीवन में मूल्यों और नैतिकता का क्षरण हो रहा है, ऐसी संकट की घड़ी से उबरने की युक्ति गांधी के पास मिलती है और इस तरह, गांधी और प्रासंगिक हो जाते हैं।

वस्तुत: मैं लेखक सच्चिदानन्दजी की पुस्तक 'एडवेंचर्स ऑफ लिबर्टी' का अनुवाद कर रहा था और उसके दो–तीन अनूदित अध्यायों को प्रकाशनार्थ मैंने गांधी दर्शन एवं स्मृति समिति की पत्रिका 'अंतिम जन' को भेज दिया। उन्हें प्रकाशित करने के साथ पत्रिका के सम्पादक राजीव रंजन गिरि ने सूचित किया कि अनुवाद पूरा हो जाए तो आप उक्त पुस्तक के प्रकाशन हेतु एक प्रस्ताव लिख भेजें, उस पर विचार किया जाएगा। इसके बाद इस सम्बन्ध में मैंने आदरणीय सच्चिदाजी से बात की तो उनका सुझाव आया कि बेहतर होगा गांधी दर्शन मेरी 'दी अनार्म्ड प्रोफेट' का अनुवाद छापे क्योंकि यह उनकी प्रकृति के अनुरूप होगा। शायद ऐसा सुझाव उन्होंने इसलिए दिया कि 'एडवेंचर्स ऑफ लिबर्टी' में आजादी के संघर्षों की कहानी है जिसमें सशस्त्र और हिंसक संघर्ष भी शामिल हैं। उन्होंने स्वयं मुझे 'दी अनार्म्ड प्रोफेट' की एक प्रति अनुवाद हेतु उपलब्ध करायी। मैं अनुवाद कार्य करने लगा। सच्चिदाजी की पुस्तकों का अनुवाद करना एक कठिन कार्य है, लेकिन उनके सान्निध्य और प्रभाव का फल है कि मैंने यह कठिन काम बड़ी सहजता से कर लिया है। लेकिन, मैं कदापि यह दावा नहीं कर सकता कि अनुवाद बहुत बढ़िया हुआ है। मैंने अपने स्तर से, जल्दबाजी में ही सही, भरसक प्रयास किया है कि अनुवाद में प्रवाह और सम्प्रेषणीयता तथा मूल पुस्तक का भाव बना रहे। बहरहाल, फिर भी, कोई त्रुटि रह गयी हो तो उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। अन्तत: गांधी दर्शन की निदेशक मणिमालाजी ने पुस्तक के प्रकाशन की अनुमति दी और 'निहत्था पैगम्बर' पुस्तक रूप में पाठकों के सामने है। उम्मीद है, यह पुस्तक पाठकों को पसन्द आएगी।

– रामजय प्रताप

प्राक्कथन

गांधी के बारे में सुप्रसिद्ध विद्वानों, जीवनीकारों और उनके घनिष्ठ सहकर्मियों ने इतना अधिक लिखा है कि उस वृहदाकार गांधी साहित्य में एक अविद्वान द्वारा कुछ जोड़ने का यह प्रयास क्षमा चाहता है।

गांधी के विचारों और आन्दोलनों के बारे में जिन्हें सतही जानकारी है, उन्हें भी यह लेखक गांधी के सम्बन्ध में कोई नयी बात बतलाने की आशा नहीं करता है। इस पुस्तक की अधिकांश बातें गांधी पर लिखी गयी उन पुस्तकों या गांधी के स्वयं के लेखनों से ली गयी हैं जो पहले से प्रचुर मात्रा में लिपिबद्ध हैं। कुल मिलाकर लेखक का प्रयास गांधी को अपने समय के एक बड़े विमर्श के बीच एक खास पक्ष के समर्थन के साथ स्थापित करना है।

इस विमर्श की शुरुआत अस्तित्ववादियों द्वारा की गयी थी। उनका तर्क था कि नैतिक मूल्यों का लौकिक या अलौकिक कोई अन्तिम स्रोत नहीं है, इसलिए ये अनिवार्य नहीं हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी पसन्द का काम करने के लिए स्वतन्त्र है और ऐसा काई मानक नहीं है जिसके आधार पर उसके कार्यों को अच्छा या बुरा कहा जा सके। वह अकेले अपने कार्यों के लिए जवाबदेह है तथा एक खास तरीके से कार्य करने पर दूसरों के लिए भी इसी तरह के कार्य करने का एक नियम बन जाता है। निस्सन्देह, आस्तिकों के लिए ईश्वर नैतिकता के स्रोत थे। अस्तित्ववादियों ने इसे भी चुनौती दी। नास्तिकों ने नैतिक संहिताओं को स्वीकार करने हेतु कभी क्षमा नहीं माँगी, यद्यपि वे इस विषय को विचार प्रदान किये बिना उनके अनुसार काम करते आ रहे थे।

अत: समस्या यह थी कि व्यक्ति को ईश्वर के होने या न होने के विचार से मुक्त नैतिक संहिताओं की खोज करनी थी या फिर, अब तक सही और गलत, भले और बुरे के ध्यान से किये जा रहे कार्यों की जगह सम्पूर्ण नैतिक अराजकता को स्वीकार करना था जहाँ सभी अपनी पसन्द के अनुसार काम करने के लिए स्वतन्त्र हों। यह अस्तित्ववादी भूत वर्षों तक इस लेखक के

पीछे रहा और वर्तमान अध्ययन अंशत: उसी भूत को नीचे उतारने का एक प्रयास है।

इस अध्ययन का प्रस्थान बिन्दु वह विमर्श ही है। केन्द्रीय विषय यह है कि नैतिक मूल्यों का कोई बाह्य स्रोत नहीं होता है, बल्कि इनके स्रोत मानव प्राणियों के खास आनुवांशिक प्रदायों में होते हैं जो उन्हें एक सांस्कृतिक प्राणी बनाते हैं। नैतिक विचार उनमें परोपकारिता सरीखी निश्चित जन्मजात मनोवृत्तियों के आदर्शीकृत प्राकट्य हैं। समाज में ये चीजें पैगम्बर की तरह नैतिक उपदेशकों के माध्यम से अपनी ठोस अभिव्यक्ति प्राप्त करती हैं। ये पैगम्बर अपवादस्वरूप अपने विशेष प्रदाय के कारण अपने युग की नीतिगत समस्याओं के प्रति संवेदनशील होते हैं तथा अपने नैतिक धर्मादेशों से उनका समाधान करने का प्रयास करते हैं। इस तरह, स्वाभाविक रूप से पैगम्बर के उपदेश प्राथमिक तौर पर अपने समय की अनोखी समस्याओं से सम्बद्ध होते हैं। लेकिन, इस प्रक्रिया में वे पुराने नीतिगत धर्मादेशों का नवीनीकरण कर उसकी व्याख्या भी करते हैं।

वर्तमान समय में पैगम्बर या नैतिक उपदेशक के प्रति जो हमारा विचार है, गांधी उसके काफी करीब दिखते हैं। चूँकि वह एकमात्र पैगम्बर हैं जो लगभग समकालीन रहे हैं तथा हम उनके बारे में ज्यादा जानते हैं। उनके व्यक्तित्व और कार्यों के माध्यम से ही इस विचार को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अन्तिम अध्याय में गांधी के विचारों की जीवनक्षमता का संक्षिप्त परीक्षण भी किया गया है।

गांधी के विचारों को जहाँ भी प्रस्तुत करना अनिवार्य लगा है, उन्हें मुख्यत: उनके अपने अद्वितीय शब्दों में प्रस्तुत किया गया है ताकि उनकी व्याख्या की जा सके। लेकिन, उनके विचारों की पूरी प्रबलता को बनाए रखना इस लेखक की क्षमता के बाहर था, इसलिए लम्बे उद्धरणों की आवश्यकता पड़ गयी है।

इस अध्ययन के क्रम में लेखक को अनेक लोगों से मदद मिली है, इसलिए उन सभी व्यक्तियों के प्रति अपना धन्यवाद ज्ञापित करता है। इस काम में गिरधर राठी की रुचि अत्यन्त प्रेरक और प्रोत्साहन देने वाली रही है। अपनी भारी व्यस्तताओं के बावजूद उन्होंने पांडुलिपि को टाइप कराकर तैयार करने में इस तरह की मदद की और कभी थके नहीं। लेखक अशोक सेकसरिया का विशेष रूप से ऋणी है जिनके साथ किया गया संक्षिप्त विमर्श बहुमूल्य रहा और इस दरम्यान उन्होंने अपने उच्च व्यक्तित्व से लेखक के अन्दर इस विचार को सुदृढ़ किया कि परोपकारिता मनुष्य का जन्मजात लक्षण है जिससे अपवाद रूप में खास व्यक्तियों को सम्पन्न किया जा सकता है।

सच्चिदानन्द सिन्हा

विषय सूची

प्रकाशकीय	3
अनुवादकीय	5
प्राक्कथन	9
1. शून्यवाद के युग में	15
2. मनुष्य की आध्यात्मिकता के जैविक मूल	31
3. नये सन्देश का स्थापन	54
4. एक आयामीय पुरुष	68
5. शाश्वत नैतिकता की ओर	81
6. नीतिपरायणता के खतरे	122
7. क्या गांधी सफल होंगे ?	143
अनुक्रमणिका	157

शून्यवाद के युग में

पैगम्बर नये मूल्यों की सूक्ष्म प्रेरणा देते हैं, लेकिन उनके जीवनकाल में जनसाधारण उनके उपदेश के लिए शायद ही उन्हें गौरवान्वित करता है या उनका अनुसरण करता है। जनसाधारण जब उनकी प्रशंसा करता है तो हमेशा यह प्रशंसा उनके वास्तविक या काल्पनिक असाधारण कार्यों के लिए होती है। सामान्य जन उनकी जिस क्षमता का शीघ्र गुणगान करने लगता है, वह है बीमार को चंगा कर देने, मृतक को खड़ा कर देने, पापियों को पापों से मुक्त कर देने की क्षमता तथा शक्तिशाली विरोधियों को तहस-नहस कर देने की उनकी योग्यता, जिनके बारे में माना जाता है कि बगैर दैवी हस्तक्षेप के नहीं किये जा सकते हैं। मोहनदास करमचन्द गांधी को इसी तरीके से गौरवान्वित किया जा रहा है। वह एकदम हाल के ऐसे व्यक्ति हैं जो अपने बारे में काल्पनिक किंवदन्तियों के बुने जाने को स्वीकृति प्रदान करते हैं- विशेषकर वर्तमान समय के उस मिजाज के मद्देनजर जो केवल वैज्ञानिक अन्धविश्वासों में विश्वास करने की स्वीकृति प्रदान करता है। फिर भी, उन्हें दुश्मनों को दोस्त में बदल देने, भारत के लोगों को एकजुट करने, हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने तथा अहिंसा के माध्यम से भारत को आजादी दिलाने का श्रेय दिया जाता है। अहिंसा का अस्त्र उनका ऐसा अस्त्र था जिसका इस्तेमाल गांधी से पहले किसी ने भी राजनीतिक सत्ता के विरुद्ध नहीं किया था। उनके कट्टर समर्थकों में कुछ ऐसे लोग भी हैं जो उन्हें एक महान अर्थशास्त्री के रूप में देखते हैं तथा कार्ल मार्क्स और लेनिन से भी बड़ा विचारक मानते हैं। गांधी की राजनीतिक और अन्य उपलब्धियों पर जैसे-जैसे बल बढ़ता जाता है, उनका अनिवार्य सन्देश वैसे-वैसे विस्मृति का शिकार होने लगता है।

निस्सन्देह, वह राष्ट्रपिता हैं। यह बात प्रत्येक विद्यार्थी को मालूम है। लेकिन, दुनिया के लगभग सभी राष्ट्रों के पास अपने-अपने राष्ट्रपिता या अपनी-अपनी राष्ट्रमाता हैं जिन्होंने या तो अपने राष्ट्रों की नींव डाली या उन्हें

आजादी दिलवायी। इसलिए इसमें कुछ भी विशेष नहीं है। लेकिन ऐसी अवधारणा गांधी के उस अनिवार्य योगदान को धुँधला कर देती है जो नैतिक मूल्यों के क्षेत्र में निहित हैं। उनका स्थान वस्तुतः बुद्ध, ईसा और मुहम्मद सरीखे महान पैगम्बरों और नैतिक उपदेशकों के बीच बनता है। उनका राजनीतिक योगदान वहाँ है। लेकिन, अन्य पैगम्बर भी राजा बने हैं, युद्ध किये हैं और अपने लोगों को आजाद कराये हैं; मसलन मूसा ने अपने गुलाम यहूदियों को मिस्र के चंगुल से आजाद कराया था और मुहम्मद ने मूर्तिपूजक विरोधियों के विरुद्ध अनेक सफल लड़ाइयाँ लड़ी थीं, वह भी अचम्भित कर देने वाले प्रभाव के साथ। लेकिन, ये घटनाएँ अपनी जनता को नयी नैतिक संहिता तथा नयी दृष्टि प्रदान करने के उनके केन्द्रीय मिशन की केवल आनुषंगिक चीजें थीं। विशुद्ध राजनीतिक शब्दावली में कहें तो गांधी की उपलब्धियों को उनके अनेक समकालीनों ने पीछे छोड़ दिया। माओ अपने चीनी समाज में एक बड़ा परिवर्तन लाने में सफल रहा। इस मायने में वह भारत के गांधी से आगे निकल गया। सत्य तो यही है कि अपने जीवन के अन्त में गांधी राजनीतिक रूप से बिल्कुल अलग-थलग पड़ गए थे। वह अकेले योद्धा थे जो साम्प्रदायिक जुनून की उठती लहर तथा उन व्यक्तियों की सत्ता की शुद्ध आकांक्षाओं जिन्हें उन्होंने राष्ट्रीय स्तर का नेता बनाया था तथा जो काँग्रेस संगठन का नियन्त्रण करने लगे थे, के विरुद्ध एक हारी हुई लड़ाई लड़ रहे थे। वह काँग्रेसी नेताओं में अपने नये भारत का विचार दे पाने में असफल रहे। नयी और स्वाधीन भारत की सरकार के नेता गांधी की अभीष्ट परम्परा का वसीयतदार बनने की बजाय तेजी से ब्रिटिश राज के वसीयतदार बनने लगे थे। शारीरिक रूप से हत्यारे की गोली का शिकार होने के पहले ही गांधी की आत्मा का वध कर दिया गया था। सचमुच एक पैगम्बर के दुःखान्त की तरह उनका भी अन्त काफी दुःखद रहा। ईसा की तरह अंतिम क्षण में गांधी को भी उनके अन्तरंग शिष्यों ने अकेला छोड़ दिया था। राजनीतिक मानकों के मद्देनजर यह कहीं से किसी बड़ी सफलता की कहानी नहीं है। फिर भी, गांधी जीवित रहते हैं और समय के साथ एक आदर्श व्यक्ति के रूप में अपने सभी समकालीनों के मुकाबले ज्यादा ऊँची उड़ान भरते हैं। उनमें विशिष्ट महानता है और यह उनके व्यक्तित्व का एक ऐसा पहलू है जो उन्हें पैगम्बरों की श्रेणी में तथा राजनीतिकों की दुनिया के ऊपर ला खड़ा करता है।

परन्तु, आजकल पैगम्बर सख्त रूप से समर्थन से दूर रहते हैं, और जब हम एक पैगम्बर के रूप में गांधी की प्रशंसा करते हैं तो यह बतलाने के लिए हम आभारी भी हैं कि पैगम्बरों की समाज में एक सकारात्मक भूमिका होती है। यह सकारात्मक भूमिका विचार रूप में उस वक्त प्रकट होती है जब हम नैतिक मूल्यों के स्रोत की जाँच करने का प्रयास करते हैं। उस जाँच से शीघ्र ही हम वर्तमान समय के सबसे विवादास्पद विषय के केन्द्र तक पहुँच जाते हैं।

यद्यपि हाल में 18वीं सदी के यूरोप में ज्ञानोदय काल से ही यत्र-तत्र पुनरुद्धारवादी प्रवृत्ति रही है और यह प्रवृत्ति यूरोपीय संस्कृति में प्रभावकारी थी। विश्व के अधिकांश भागों में विस्तार पा रही इस प्रवृत्ति के प्रभाव के अन्तर्गत ईश्वर और धर्म को अस्वीकार करने की प्रवृत्ति रही है। लेकिन, ईश्वर के अस्वीकार के सम्पूर्ण उलझाव का अनुभव केवल 19वीं सदी के बाद वाले दशकों से होना शुरू हुआ। उस समय तक यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया जा चुका था तथा धर्मों को अन्धविश्वास के मलकुंड के रूप में लिया जा चुका था, नैतिकता को अस्वीकार नहीं किया गया था। प्राचीन भारत में हमारे पास चार्वाक से सम्बन्धित एक नास्तिक दर्शनशास्त्र था जिसने उस स्थिति से संगत नीतिनिरपेक्ष निष्कर्ष निकाला था। लेकिन, उस परम्परा का प्रभाव कहीं टिकता नहीं है। यूरोप में ही समाजवाद और अराजकतावाद सरीखे मौलिक और परिवर्तनकारी आन्दोलनों में मूल्यों का सार अनिवार्यतः ईसाई ही रहा, यद्यपि आन्दोलनों के नेता कट्टर नास्तिक और घोर धर्मविरोधी थे। नीत्शे ने उपहासपूर्ण तरीके से बतलाया कि समानता, बन्धुत्व और दूसरों के कल्याण के सिद्धान्त, ये सभी ईसाइयत से प्राप्त की गयी गुलाम नैतिकता के पहलू हैं। निस्सन्देह, नीत्शे का यह विचार सही था। मनुष्यों के बीच बन्धुत्व और समानता पर जोर देने वाली ईसाइयत के पारम्परिक मूल्यों के बिना अन्य कोई मानक नहीं था जिसके अनुसार 19वीं सदी के यूरोप में मनुष्यों के बीच के सम्बन्ध को मापा जा सके। शोषण जैसे शब्दों को केवल एक ऐसे समाज में ही महत्त्व (और लांछन) मिल सकता था जहाँ लोग एक-दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करते हों। दोस्तोवस्की ने मौलिक नास्तिकों को एक दूसरा सदमा दिया। उसने कहा कि यदि ईश्वर नहीं है तो हर चीज जायज है। सचमुच, इस निष्कर्ष से भागने का कोई रास्ता नहीं था क्योंकि उस

समय के अधिकांश समाजों में ईश्वर वह अन्तिम स्रोत बन गए थे जिनसे अनेक नैतिक संहिताएँ निकली थीं। नीत्शे ने अनुभव किया कि ईश्वर के निधन से सारा ब्रह्मांड कब्जे से अलग हो गया है और जब तक मनुष्य स्वयं ईश्वर के सिंहासन पर आरूढ़ नहीं होता है, कोई दूसरी चीज इसे एकबद्ध नहीं कर सकती है। उसके लिए यह अतिमानव के आसन्न उत्थान की सूचना थी। उक्त विचार में एक प्रछन्न भाव निहित था जिसने उस समदेशी हिटलर में अपनी प्रभावशाली गूँज प्राप्त की जो ईश्वर की तरह पूरी दुनिया को अपनी मुट्ठी में करने तथा इसके प्राणियों के साथ अपनी सनक के अनुसार खेलने का सपना देखता था। हिटलर ने वस्तुतः एक ऐसी संस्कृति का निर्माण करने का प्रयास किया जो समता के ईसाई मूल्य की जगह किसी एक व्यक्ति या कुछेक व्यक्तियों के अन्य मानव प्राणियों पर आधिपत्य करने या उसे बर्बाद करने के असीमित अधिकार के मूल्य को प्रस्थापित करना था। मूल्यों की इस नयी व्यवस्था के अन्तर्गत अतिमानव और शासक जातियाँ होते थे जिनके पैरों पर शेष दुनिया के लोगों को साष्टांग झुकना पड़ता था।

हिटलर एवं उसके समान अनेक अन्य शासकों का उदय उन लोगों के प्रति एक अशिष्ट जागृति थी जो यह अनुभव करते थे कि ईश्वर और धर्म के लक्ष्य एवं वैज्ञानिक प्रतिबलता की वृद्धि से सभ्यता की सारी बुराइयाँ दूर हो जाएँगी। सचमुच, हिटलर की जर्मनी, सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका सहित पश्चिमी लोकतान्त्रिक देश सबके सब विज्ञान और तकनीक के प्रति गहरे प्रतिबद्ध हो गये और ये आज अभूतपूर्व पैमाने पर नरसंहार के विकासशील अस्त्रों के लक्ष्य को प्राप्त करने के पीछे पड़ गये हैं। सचमुच, वर्तमान समय में घातक अस्त्रों का अनुसरण इतनी अच्छी तरह से किया गया है कि हिटलर आज जिन्दा होता, तो उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता। आज हिटलर के उत्तराधिकारी शासकों के पास ठीक वही अस्त्र सब हैं जिनके बारे में हिटलर सपना बुनता था। वह अपने विरोधियों को उन्हीं अस्त्रों से धमकाता था, जबकि उसके पास वे अस्त्र उपलब्ध नहीं थे। ये सारी चीजें नैतिक विषय को सर्वोच्च सरोकार का विषय बना देती हैं। नैतिक विषय, यानी निर्णय का वह मानक जो मानव-निर्मित विशालकायी सत्ता का संचालन करने में मनुष्यों का पथ-प्रदर्शन कर सके। इसका बड़ा कटु अनुभव होता है कि इस तरह के नैतिक नियन्त्रणों के बिना मानवजाति स्वयं विज्ञान और तकनीक की सदा

प्रसार्य कुंडलियों की तहों के अन्दर दब जा सकती है। तापनाभिकीय बम या स्टारयुद्ध अस्त्र सरीखे विजय दिलाने वाले अस्त्रों का प्रयोग किये बिना भी मनुष्य द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से भारी संख्या में हताहत हुआ है। इन हताहतों की संख्या उक्त युद्ध में मारे गए लोगों की संख्या का लगभग दो-तिहाई हिस्सा है। ये घटनाएँ अशुभ सन्देश देती हैं। लेकिन, यह दृढ़ विश्वास की कमी कही जाएगी कि मनुष्य उस रास्ते से खुद को नहीं मोड़ पाता है जिस रास्ते पर चलने का विनाशकारी परिणाम हर किसी के सामने स्पष्ट है।

दृढ़ विश्वास की कमी मूल्यों के संकट से उत्पन्न होती है। इस सन्दर्भ में हमने पूर्व में चर्चा की है। यूरोप में नीत्शे और दोस्तोवस्की के औचित्यस्थापन का पूरी तरह अनुसरण कर अस्तित्ववादी दर्शनशास्त्र का एक शक्तिशाली स्कूल विकसित हो गया जिसने नैतिक मूल्यों के बारे में उसी संशय को फिर से दोहराया। अस्तित्ववादियों ने केवल यही नहीं कहा कि यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो प्रत्येक चीज जायज है, बल्कि एक कदम आगे बढ़कर यह भी कहा कि यदि ईश्वर का अस्तित्व है भी, तो उनका अस्तित्व नैतिक विषयों के बारे में मनुष्य का पथ-प्रदर्शन करने के लिए नाकाफी है। उन्होंने तर्क दिया कि ईश्वर की आवाज या वैसा कोई अन्य अनुभूत संकेत जिसके द्वारा ईश्वर मनुष्य को नियन्त्रित करते हैं, अन्ततः इन सब चीजों की व्याख्या मनुष्य ही करता है : और इस तरह सन्देश और उसकी व्याख्या के बीच एक अयोज्य अन्तराल रह जाता है। हम यह कैसे जान सकेंगे कि हम पर कृपा किये गये वे संकेत और आवाज उसी ईश्वर के हैं, किसी दुरात्मा के नहीं हैं या वे एक सीधा निर्मूल भ्रम हैं? इसलिए, नैतिक निर्णय का आह्वान करने वाले सभी विषयों का अकेले मनुष्य ही विवाचक हो सकता है। फलस्वरूप, सभी नैतिक विषयों को प्रत्येक मनुष्य पर छोड़ दिया जाता है कि वह अपना व्यक्तिगत निर्णय ले। वह किसी भी तरह से कार्य करने के लिए स्वतन्त्र है, बशर्ते कि उसके पास अपने किये हुए की जवाबदेही लेने का साहस हो। वह अपनी पसन्द से स्वयं का नियम-निर्माता बन जाता है और अन्य लोग भी उसका अनुसरण कर स्वयं का नियम-निर्माता बन जाते हैं। कतिपय अस्तित्ववादियों ने वास्तविक तौर पर अच्छे तर्क के साथ उनके इस निर्देश का व्यवहार में अनुसरण किया है। यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं द्वारा निर्धारित मानकों के अनुसार पूरी तरह काम करना शुरू कर देता है तो 'विशृंखलन' शब्द के

सही अर्थ में पूरी दुनिया सम्पूर्ण विश्रृंखलन का शिकार हो गयी होती। ऐसी दुनिया मार्किस दे सादे के उपन्यासों (आश्चर्यजनक नहीं, अस्तित्ववादियों के बीच काफी लोकप्रिय) में चित्रित उस विश्रृंखलन सरीखी होगी, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की कीमत पर अपनी परपीड़क कामुक प्रवृत्तियों को तृप्त करने का प्रयास करते हैं; ऐसी दुनिया जहाँ बल और छल का शासन रहता है तथा वह लोकोक्तीय विख्यात सम्मान जो चोरों के बीच प्रचलित माना जाता है, इस व्यभिचार के सहवासियों के बीच नहीं पाया जाता है। ऐसी दुनिया जहाँ इसके सभी सदस्यों का व्यवहार दूसरों के लिए अननुमेय (वह स्थिति जहाँ कोई सामाजिक संहिता नहीं हो) होता है, तुरन्त उत्तेजना या गतिहीनता के कारण दम तोड़ देगी।

यद्यपि सभी मूल्यों के अस्तित्ववादी अस्वीकार के परिणाम समस्त सामाजिक व्यवस्था को समाप्ति की तरफ ले जा रहे प्रतीत होते हैं, इस अस्वीकार के पीछे का तर्क काफी दमदार है और हमें इसका सामना करना है। इसकी उत्पत्ति सत्त्व और अस्तित्व से जुड़े एक पुराने विवाद से हुई है। पश्चिमी दुनिया में प्लेटो इस विचार के सबसे प्रभावशाली प्रवक्ता थे कि सत्त्व को साकार दृष्टिगोचर दुनिया के ऊपर श्रेष्ठता प्राप्त है। प्लेटो के अनुसार दृष्टिगोचर भौतिक दुनिया से मुक्त शुद्ध विचारों की एक दुनिया है और हम जो चीजें अपने चारों ओर देखते हैं, वे उन विचारों की लचर नकल हैं। ये उनके आदिम मॉडल हैं। यूनानियों का पसन्दीदा विषय था, रेखागणित। उदाहरणार्थ, यह रेखागणित खींची गयी किसी वास्तविक रेखा की तरफ रेखागणितज्ञों की आदर्श रेखा की एक अपूर्ण प्रतिकृति के रूप में संकेत करता है जिसमें परिभाषा के अनुसार न मोटाई होती है, न चौड़ाई। उसी प्रकार, मानवता या अच्छाई इत्यादि की तरह इस तरह के सोच या विचार थे और अन्तत: इन विचारों का ही विचार था कि इसने उन सबको आत्मसात कर लिया। इस तरह, वास्तविक दुनिया में मानवीय प्रकृति का प्रतिरूपण मानवता के विचार से तथा ठोस अच्छे कार्यों का अच्छाई के विचार से किया गया। पश्चिम में यह प्लेटो के काल से ही आदर्शवादी दर्शनशास्त्र का आधार रहा है और धार्मिक दर्शनशास्त्रों से गहरे जुड़ा हुआ था। वास्तव में विचार के सिद्धान्त को ईश्वर के सिद्धान्त के रूप में आत्मसात् कर लिया गया था। स्वतन्त्र रूप से, अपनी सभ्यता की तरह दूसरी सभ्यताओं ने भी उस तरह से दुनिया के

आदर्शवादी और अस्तित्ववादी विचार का विकास किया था जिसमें सबसे बड़ा यथार्थ अभौतिक था, मसलन 'ब्रह्म' जिसकी विशेषताओं को अपनी चारों तरफ की भौतिक दुनिया से सम्बद्ध विस्तार, रंग, वास्तविकता, गन्ध और रूप सरीखे गुणों से परिभाषित नहीं किया जा सकता था। फिर भी, यह सोचा गया कि वास्तविक दुनिया का प्रत्येक पहलू और इसमें घटने वाली घटनाएँ किसी-न-किसी तरह उस आदर्श 'अस्तित्व' के निर्गमन हैं जिन्हें आप पश्चिमी आदर्शवादियों के अनुसार परमात्मा कहें या वेदान्तियों के अनुसार ब्रह्म कहें।

हालाँकि, यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि उपनिषदों या बौद्ध साहित्य में वर्णित नैतिक प्रभुत्व की भावना ठीक पश्चिमी धार्मिक विचारों की तरह थी। स्पष्टत: इनका अनुकूलन भिन्न था। उपनिषद् और बुद्ध के विचारों ने एक माध्यम के रूप में जन्म और मरण के चक्र से मनुष्य की मुक्ति के लिए नैतिक संहिताओं पर जोर दिया, जबकि पश्चिम में नैतिक नियन्त्रण मुक्ति के किसी निश्चित सिद्धान्त से बँधे हुए नहीं थे। वे नियन्त्रण स्वत: थे, यद्यपि त्याग की एक हल्की मनोवृत्ति ईसोपदेश में समझने योग्य थी। दोनों में जो सामान्य था वह उनका स्रोत था जो असांसारिक था। अस्तित्ववादियों ने इस परम्परा से मौलिक प्रस्थान किया। उन्होंने जिस चीज को अस्वीकार किया, वह 'विचारों' या 'मूल तत्त्वों' का प्राक् अस्तित्व था। उन्होंने दावा किया कि मूल तत्त्व वास्तविक अस्तित्ववानों के केवल गुण हो सकते हैं और इसलिए अस्तित्व को हमेशा मूल तत्त्व का पूर्ववर्ती होना चाहिए। इस स्वीकारोक्ति का निहितार्थ यह था कि उस मानवता या अच्छाई का इस तरह के विचार में कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकता है और इस तरह, वह मानवीय आचरण को बदलने का दावा नहीं कर सकता है। इसने सभी नैतिक नियन्त्रणों को प्रभावहीन बना दिया। लेकिन, इस स्वीकारोक्ति का वास्तविक प्रभाव प्रचंड धार्मिकों की अपेक्षा नास्तिकों और अज्ञेयवादियों के लिए ज्यादा ध्वंसात्मक था। धार्मिकों के लिए ईश्वर की सत्ता में विश्वास, एक आस्था का विषय था तथा यह भौतिक या तार्किक प्रमाण से परे था। ईश्वर में अटल विश्वास के साथ अधिकांश नैतिक संरचना अक्षुण्ण रह गयी। यह उन लोगों के लिए एक भिन्न स्थिति थी जिन्होंने ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया था। यह अस्तित्ववादी तर्ककाव्य कि ईश्वर के अस्वीकार में ही आचरण से सम्बन्धित सभी तरह की प्रचलित नैतिक संहिताओं का अमान्यीकरण अन्तर्निहित है, इसने चिन्तनशील

नास्तिकों को गम्भीर धर्मसंकट में डाल दिया। इस चुनौती का सकारात्मक पहलू यह था कि इसने किसी व्यक्ति के कार्य हेतु उत्तरदायित्व का आह्वान किया, क्योंकि कोई उच्चाधिकारी नहीं था जिसके नाम पर किसी कार्य को सही ठहराया जाता; और नकारात्मक पहलू यह था कि इसने समस्त नैतिक मूल्यों के दावे को इनकार करते हुए एक प्रकार की नैतिक तानाशाही की वकालत की जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने तक एक कानून बन जा सकता था। इस बाद वाली प्रक्रिया के निहितार्थों पर पहले ही विचार किया जा चुका है। यह बाद वाली सम्भावना इतनी व्यवधानकारी है कि इसे आसानी से स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अतएव नैतिक संहिताओं और धर्मों का अनादर्शवादी स्रोत प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयास किये गये हैं। भौतिक कारकों में धर्मों एवं इनसे सम्बद्ध मूल्यों की उत्पत्ति का पता लगाने के कुछ प्रयास इस अस्तित्ववादी विमर्श के पहले भी किये गये थे, लेकिन वर्तमान समय में यह एक ऐसा विषय हो गया है जो गम्भीरता से विचार करने की माँग करता है।

इस समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में रखने हेतु अस्तित्ववादियों को सभी सामूहिक नैतिक संहिताओं और धर्मों के मौलिक अस्वीकार का इस तथ्य के विरुद्ध स्थापित करना है कि हम वैसे किसी संगठित आदिम या आधुनिक समाज को नहीं जानते हैं जिसके पास कोई धर्म नहीं हो। इन सभी धर्मों के पास विधानों और बन्दिशों के एक समुच्चय के साथ-साथ एक ब्रह्मांड विज्ञान, आचार संहिता है तथा एक व्यक्ति के जीवन की गम्भीर अवस्थाओं से सम्बन्धित कुछ धार्मिक कृत्य होते हैं। साथ ही, अधिकांश धर्मों में एक ईश्वर या देवी-देवता या उनके प्रतिनिधिगण होते हैं। बौद्ध और साम्यवाद की तरह वैसे धर्म भी होते हैं जो ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हैं। लेकिन इनमें भी सत्ता का एक इन्द्रियातीत और अलौकिक स्रोत रहता है जिससे यह आशा की जाती है कि वह अगोचर रूप से दुनिया के भाग्य को आकार देगा। बौद्ध धर्म के मामले में यह स्रोत बोधिसत्त है; साम्यवाद के मामले में 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मक पद्धति' या 'इतिहास की अपरिहार्य शक्ति' है। ऐसी अतर्क्य सत्ता धर्म का एक आवश्यक अंग होती है। इसके विधानों या बन्दिशों में वह विस्मयप्रेरक सत्ता नहीं हो सकती है जो उनके पास स्वयं को व्यावहारिक जाँच के अन्तर्गत कर दिये जाने की स्थिति में होती है। इसने धार्मिक समादेशों को अनुभव और तर्क के अधीन कर दिया; उन्हें औपबन्धिक बना दिया तथा

धार्मिकता और पवित्रता से वंचित कर दिया। साम्यवादी नेताओं ने श्रद्धांजलि अर्पित करने वाली जनता के लाभ के लिए लेनिन-समाधि में लेनिन की लाश को सुगन्धित और सुरक्षित बनाये रखा। ऐसा वे अचेतन रूप से समस्त शाश्वतता की चमक से चकमक होने, महान नेता के जीवन को कब्र के बाहर बहुत दिनों तक देखते रहने की उसी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता के तहत कर रहे थे जैसा कि महान फराओ के साथ किया गया था। फराओ के शवों को पिरामिडों में भड़कीली शानशौकत के बीच सुरक्षित रखा गया था।

जीवित समाजों में नैतिक संहिताएँ प्रभावशाली धर्मों के साथ इतना गहरे बुनी हुई रही हैं कि इन दोनों के अध्ययन को अलग कर पाना कठिन है। वस्तुत: नैतिक संहिताएँ अपनी सत्ता केवल धार्मिक प्रणाली द्वारा व्यवस्थित ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण चित्र के प्रसंग में हासिल करती है। उन लोगों के प्रकरण जो अपने स्थानीय धर्म को स्वीकार किये बिना नैतिक रूप से कार्य करते हैं जैसा कि मौजूदा समय के नास्तिक लोग हैं, हाशिए पर हैं तथा इस तथ्य से व्याख्यातित हो सकते हैं कि जिस वक्त वे धर्म की युक्तिकृत और मुखर भाषा को अस्वीकार करते हैं, वे नैतिक संहिताओं का आन्तरिकीकरण कर चुके होते हैं।

आधुनिक काल में कुछ देशों को छोड़ दें, तो किसी भी देश में धर्म केवल व्यक्तिगत आस्था और उपासना पद्धति का मामला नहीं रहा है; सामान्यत: इसने जीवन की सम्पूर्णता को गले लगाया है। यह कदापि कोई अन्यथा चीज नहीं हो सकता था, क्योंकि धर्म का प्रधान मूल्य सामाजिक बन्धनों को पक्का करने तथा लोगों को उनके जीवन की सबसे मुश्किल घड़ी में भी धीर एवं सहज बनाये रखने में निहित होता है। साथ ही, धर्म की पारम्परिक समाज की उत्पादक गतिविधियों में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। कृषक समाजों में जहाँ फसलों की बुआई और कटाई से सम्बन्धित अनिवार्य कर्मकांड और त्योहार होते हैं, वहीं शिकार करने वाले समाज में शिकार से सम्बन्धित कर्मकांड और त्योहार मनाये जाते हैं। यह धर्म को जन्तुओं और पादपों की दुनिया से जोड़ता है तथा ऋतुओं, ग्रहों, सूर्य, चाँद और नदियों के अवस्थान्तरण से भी जोड़ता है। इस तरह, धर्म मनुष्य और प्रकृति तथा मनुष्य और मनुष्य के बीच भाईचारा कायम रहता है। नैतिक संहिताएँ स्वाभाविक तौर पर केवल सामाजिक प्रसंगों में ही अपना औचित्य और पूर्ण प्रभाव प्राप्त कर पाती हैं।

यह स्पष्टतः धर्म के सामाजिक कार्य की ओर संकेत करता है। लेकिन, इसकी उत्पत्ति का ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया है।

धर्म तर्कसंगत रूप से निश्चित मानवीय लक्ष्यों को पूरा करने की कल्पित संस्थाएँ हैं। इनके कार्यों के बारे में अनेक लोग ऐसा सुझाव देते हैं। यह एक विचार हो सकता था। लेकिन, यह तर्क दिया गया कि इनकी (धर्मों की) कल्पना प्रभुत्वशाली शोषक वर्गों द्वारा सोच-समझकर की गयी है ताकि लोग उनके अत्याचार को प्राकृतिक व्यवस्था के भाग के रूप में या अलौकिक रूप से विहित कार्य के रूप में स्वीकार करने के लिए मतवाला बन जाएँ। यह विचार परिवर्तनवादी समाजों में व्याप्त है तथा इस तथ्य से विश्वसनीयता हासिल करता है कि धर्मों में सचमुच वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को अनुरूपता की शिक्षा दी है। लेकिन, धर्म की इस भूमिका की एक वैकल्पिक व्याख्या यह भी हो सकती थी कि चूँकि प्रत्येक धर्म को एक पूर्ण सृष्ट्यात्मक व्यवस्था को विस्तार देना है, इसलिए इसे इस व्यवस्था के भीतर के वर्तमान सामाजिक सम्बन्धों को भी समंजित करना है। यदि सामाजिक सम्बन्ध शोषणात्मक है तो उस पहलू को भी इस योजना की सम्पूर्णता में जगह दी जाती है। लेकिन, दूसरे क्षण धर्म उस प्रणाली का आदर्शीकरण भी कर सकता है जो शोषण की वर्तमान प्रणाली के कारण अशान्त है। यूरोप में 14-17वीं सदी के दौरान जो भी कृषक या अन्य विद्रोह हुए थे, वे मुख्यतः मनुष्य की समानता सम्बन्धी बाईबिल के विचार से प्रेरित थे। किसी भी तरह इसके कुछ साक्ष्य हैं कि धर्मों की नैतिक संहिताओं का सोच-समझकर एक खाका तैयार किया गया है। अधिकांश श्रद्धालुओं को ये निर्देश शाश्वत रूप से दिये जाते हैं तथा इन निर्देशों के लिए जवाबदेह पैगम्बर भी अनुभव करते हैं कि वे केवल एक माध्यम के रूप में ईश्वर या कोई अन्य बड़ी शक्ति की आवाज को संचारित करने का काम कर रहे हैं।

नैतिक संहिताओं का खाका निश्चित अभीष्ट लक्ष्यों की पूर्ति हेतु खींचा गया है। इस विचार का दो सदी पूर्व ही कांट ने निर्णयात्मक रूप से खंडन कर दिया था। उनके तर्क का प्रभाव आज तक कम नहीं हुआ है। इस विचार को स्पष्ट करने के लिए उक्त तर्क को जस-का-तस प्रस्तुत करना जरूरी है :

''मनुष्य इस चेतना संसार का एक प्राणी है जिसके पास आवश्यकताएँ हैं तथा इस सिलसिले में उसके तर्क में एक सबक है जिसे यह अस्वीकार नहीं

कर सकता; अर्थात अपनी अनुभूतियों के साथ होना तथा जीवन में और यदि सम्भव हो तो आगे के जीवन में खुशी के ख्याल से व्यावहारिक लोकोक्तियों की रचना करना। लेकिन, वह पूरी तरह जानवर नहीं है कि तर्क अपने आधार पर जो कहता है उससे वह तटस्थ रहे एवं एक सचेतन प्राणी के रूप में वह तर्क का इस्तेमाल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केवल उपकरण के तौर पर करे। अकेले तर्कधारण से उसका मूल्य पशुओं से ऊपर नहीं हुआ होता यदि वह उसी उद्देश्य से उसका काम करता जो मूलवृत्ति उनके लिए करती है। उस स्थिति में तर्क केवल एक खास तरीका होता जिसका प्रकृति ने उन्हीं लक्ष्यों के लिए उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया था। इसके लिए प्रकृति ने किसी बड़े उद्देश्य की खातिर मनुष्य को योग्य बनाये बगैर पशुओं को योग्य बना दिया था। एक बार प्रकृति की यह व्यवस्था उसके लिए बना दी गयी है तो निस्सन्देह अपने सुख-दु:ख का खयाल रखने के लिए उसे तर्क की जरूरत है। लेकिन, वह एक बड़े उद्देश्य के लिए भी तर्कधारण करता है अर्थात स्वयं में क्या गलत और सही है, इसका विचार करने के लिए। केवल रुचि के बोध से अप्रभावित विशुद्ध तर्क ही इसके बारे में निर्णय कर सकता है और निश्चित रूप से इसे आद्योपान्त इस अनुमान का विभेद उस पहले वाले से करना चाहिए (उसकी अपूर्णता की पूर्ति करने वाली आवश्यकता से सम्बन्धित निर्णय) और इस निर्णय को उसकी सर्वोच्च स्थिति बना देनी चाहिए।''[1]

यहाँ स्पष्टतः वह तर्क के उपकरणीय कार्य जिसे मनुष्य दूसरे जानवरों के साथ साझा करता है तथा तर्क के अन्य कार्य यानी नैतिक निर्णय के कार्य जो उपकरणीय कार्य नहीं हैं तथा किसी भी तरह शीघ्र समझ में नहीं आते हैं, के बीच विभेद करता है; अर्थात, यह मनुष्य की अनेक इच्छाओं के अनुसार काम करने वाला नहीं है। यह एक बुनियादी विभेद है अर्थात मूल्यों और इच्छाओं के बीच का विभेद। अधिकांश मामलों में नैतिक मूल्य एक तरह से उन मानवीय कार्यों को रोकने का प्रयास करता है जो मनुष्य की इच्छाओं को उभारता है। यह मनुष्य और उसके निकटतम बन्धु बन्दर सहित सभी ज्ञात पशु-प्रजातियों के सदस्यों के बीच के अनिवार्य अन्तर की एक स्वीकारोक्ति है; और यह अच्छे और बुरे के ज्ञान तथा उचित और अनुचित प्रयासों को सच मान लेता है।

निस्सन्देह, कांट के अनुसार यह विशुद्ध व्यावहारिक कारण– जैसा कि

वह इसे नैतिक निर्णय करने वाला प्रभाग कहते हैं– तात्त्विक दुनिया से सम्बन्धित है और उन अनुभूतियों की दुनिया से बाहर हैं जो कार्य–कारण के भाव के नियमों के अधीन होते हैं। लेकिन, हमें इस खास सन्दर्भ में मानवीय प्रजातियों की विचित्रता को पहचानने के लिए तात्त्विक और चमत्कारिक दुनिया के इस द्वैत को स्वीकारना नहीं पड़ता है। इसकी उत्पत्ति का विचार किये बिना इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मनुष्य के अमूर्तीकरण, सांकेतिकता और कल्पना की शक्ति ने उसके लिए विचारों की एक वृहत और जटिल दुनिया की रचना की है जिसने न केवल अपनी निजी दुनिया का विकास किया है (इसे स्वीकार किया जाना है, हालाँकि इस दुनिया का अस्तित्व केवल मानवीय कल्पना में है और यह साहित्य, कला, विज्ञान, संगीत और धार्मिक विश्वासों की दुनिया में लिप्यन्तरित होती है) बल्कि वे व्यावहारिक शारीरिक मानवीय गतिविधियों के एक बड़े हिस्से पर बलपूर्वक हावी रहते हैं और उनका संचालन करते हैं। यह आदर्श दुनिया मानवीय कल्पना में विकसित होती है तथा यह कला और विज्ञान के अनेक कार्यों में संहिताबद्ध असंख्य संकेतों के माध्यम से स्थान–दर–स्थान और पीढ़ी–दर–पीढ़ी संचरित होती है। यह सर्वप्रथम दूसरे विचारों से साफहोती है और उनमें एक निरन्तर अपवर्ध्य कल्पनाशील दुनिया की पुनर्रचना करती है। इस कल्पना की दुनिया का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण नैतिक और कलात्मक निर्णय लेने की इसकी क्षमता है। इस संकाय के माध्यम से ही मनुष्य सुन्दर और कुरूप, भला और बुरा जैसे गुणों के साथ एक दुनिया की रचना करता है और उससे अवगत होता है; और समझ की अपरिहार्य सीमाओं का सामना करते हुए रहस्य और आश्चर्य के एक परिवेश के साथ अज्ञात क्षेत्र में टपक जाता है। बाह्य दुनिया में भला, बुरा, सुन्दरता, कुरूपता इत्यादि का कोई अस्तित्व नहीं रहता है। लेकिन, मनुष्य ने इन गुणों को दुनिया में डाल दिया है तथा उसने यह छोटी–सी दुनिया बनायी है जिसमें वह इन आदर्श गुणों से लबालब होकर निवास करता है। उनके उसी विषयनिष्ठ स्वभाव के कारण ये गुण भौतिक आधार के तत्त्वों में अलघुकरणीय होते हैं। एक अर्थ में कहा जा सकता है कि इसने उनके सृजन को सरल बनाया है। यह एक फूल के रंग और महक की अपने पौधे के उन मूल पुष्टिकारक तत्त्वों में अलघुकरणीयता की तरह है जिसने फूल को सम्भव बनाया। ऐसा केवल एक निश्चित तरीके से मानवीय बोधों से सम्बन्धित

अनुभव करने वाले विचार में होता है तथा यह अनुभूत वस्तु के साथ एक निश्चित रिश्ते से साझा करता है जिससे रंग और महक अस्तित्व में आते हैं। फिर भी, ये आदर्श गुण ही हैं कि प्राच्य मानवीय जीवन निर्णायक तरीकों से; यहाँ तक कि मनुष्यों ने उत्तरजीविता के विकासवादी लक्ष्य को भी अस्वीकार कर दिया और वे स्वतन्त्रता, सद्‌भाव और गरिमा इत्यादि सरीखे मूल्यों के लिए अपनी जान अर्पित कर देते हैं। भौतिक अर्थ में वेदान्तवादी या आत्मवादी हुए बिना कोई यह कह सकता है कि प्रत्येक मनुष्य उस दुनिया का जिसे कि वह जानता है, रचयिता है और उसके इन विचारों के बगैर यह एक अविशेषित आचरण की निराकार धूल में बदल गयी होती। यह बर्केली के उस विचार का स्वीकार नहीं है कि जब लोग दुनिया को देखना छोड़ देंगे तो दुनिया का अस्तित्व खत्म हो जाएगा। दुनिया का अस्तित्व तो रहेगा ही, लेकिन वह अपरिभाषित और अर्थहीन अस्तित्व रहेगा। इस दुनिया का रंग, इसकी ऊष्मा तथा अच्छाई और सुन्दरता जैसे इसके गुण, सभी उस तरह के बने एक जीव से जिस तरह से हमारी रचना हुई है और इस दुनिया को इसके अनेक गुणों की पूर्णता में समझने की इस जीव की क्षमता से प्राप्त होते हैं।

इस अर्थ में यह कहना उचित है कि अस्तित्व का यह क्रम जहाँ कलात्मक और नैतिक मूल्यों का वास होता है, भौतिक कारणता की इस दुनिया से बाहर रहता है। यह मूल्यों की दुनिया अपने ऊपर लागू भौतिक बल के अवैयक्तिक कानून के विरुद्ध तृणमात्र भी नहीं धसक सकती है और उसी ढंग से, ब्रह्मांड के अन्दर प्राकृतिक शक्तियों की उस शक्तिशाली कार्रवाई के समक्ष अभेद्य रहती है जिसके सामने मनुष्य एक भौतिक अस्तित्व के रूप में वह खिलौना बना रहता है जिसकी तुलना प्रकाश की किरण में होने वाली कणिका नृत्य से भी नहीं की जा सकती है। यद्यपि मनुष्य उन दोनों, भौतिक दुनिया की शक्तियों और स्वयं द्वारा सृजित आदर्श दुनिया के प्रभावों के अधीन रहता है और इन दोनों दुनियाओं के बीच उसी के माध्यम से अन्त:क्रिया होती है।

वर्ष 1942 के अपने एक आलेख में आन्द्रे गिड जो काफी धार्मिक व्यक्ति थे, क्रूसारोपण के समय ईसा की यन्त्रणा–चीख की महत्ता का वर्णन करते हैं। ईश्वर एवं उसकी शक्ति को इस ब्रह्मांड से बाहर दर्शाते हैं तथा उन्हें नैतिक व्यवस्था के अन्दर रखते हैं। वह क्रूसारोपण के समय की ईसा की अन्तिम चीख को जैसा कि ईसाई धर्मप्रचारक मैथ्यू और मार्क ने प्रतिवेदित किया है,

इन शब्दों में उद्धृत करते हैं, 'हे ईश्वर, हे ईश्वर, उन्होंने मेरा त्याग क्यों किया है?' और आगे लिखते हैं :

"...और ये शब्द भयानक हैं; यह हर आत्मा की वह दु:खद चीख है जो अपना विश्वास उस ईश्वर में रखती है जिसका कोई अस्तित्व नहीं है। अथवा यदि वे उतनी दूर तक नहीं जाते हैं, तो कम-से-कम ईसा को ईश्वर से अलग करते हैं..."[2]

वह इस दु:खद स्थिति को उद्धृत करते हुए म्ले एम.एस. डि सेंट-सायर को लिखे पत्र में निम्नलिखित निष्कर्ष निकालते हैं :

"पशु-बलों पर विजय प्राप्त करने के लिए एक उपयुक्त गुण खड़ा करने के सभी मानवीय प्रयास, वे प्रयास जो ईसा में सबसे ज्यादा अभिव्यक्त होते हैं, स्वयं को प्रकृति के उन नियमों के विरुद्ध व्यवस्थित करते हैं जिसमें ईश्वरीय हस्तक्षेप के लिए कोई जगह नहीं है। ईसा की हताशा की यह चीख 'हे ईश्वर, हे ईश्वर, उन्होंने मुझे क्यों त्याग दिया है?' प्रदर्शित करती हैं कि जिस क्षण हम नैतिक क्षेत्र से बाहर ईश्वर की तलाश करते हैं, उसी क्षण से हम हताशा में लगातार धकेले जाने के लिए निर्दिष्ट हो जाते हैं... भौतिक और नैतिक दोनों दुनियाएँ स्थायी रूप से विवाद में रहती हैं। मुझे ईश्वर में वैसा कोई गुण दिखाई नहीं दे सकता है जो उस भौतिक दुनिया में उसे प्यारा (वह केवल भयानक है) बना सके जिस पर हमारा शरीर निर्भर रहता है तथा जिसके नियम अटल हैं।"[3]

वह कहने लगते हैं कि सबसे शानदार चीज जो हम कर सकते हैं, वह है इन शक्तियों पर इनको नियन्त्रित करने वाले नियमों को समझकर विज्ञान के माध्यम से शासन करना तथा सर्वाधिक उदार तरीके से इस गुण का उपयोग करना और वह उस प्रेम के साथ ईश्वर का आह्वान करने के लिए सहमत हो गए जो ईसाई धर्म-प्रचारकों में उद्दीप्त होता है। और तब आगे लिखते हैं :

"मानव जाति का यह स्थायी नाटक प्रोमेथिअस और जिअस के बीच, आत्मा और पदार्थ के बीच, प्रेम और पशुबल के बीच तथा ईसा और प्रकृति की उदासीनता के बीच अभिनीत नाटक हैं।"[4]

यह उल्लेखनीय है, ईसा की प्रासंगिकता मनुष्य के लिए केवल इसलिए नहीं है कि उसने मानवीय रूप धारण किया है, बल्कि वह मानवीय अनुभूतियों, कमजोरियों और पीड़ाओं का दैवीकरण भी है। यदि अवैयक्तिक ईश्वर का

अस्तित्व है तो अवैयक्तिक ईश्वर के लिए सुख और दु:ख या अच्छा और बुरा सम्पूर्ण उदासीनता का मामला बन जाएगा, क्योंकि वे उसके सर्व-आच्छादक असीम अस्तित्व के पहलू मात्र होंगे। गीता के भगवान की तरह सृजन और विध्वंस की अन्तहीन शृंखला उसमें न तो दया पैदा करेगी, न ही उमंग, क्योंकि वे उसके निजी अस्तित्व के पहलू मात्र हैं। भगवान प्रकृति की सम्पूर्णता और अपने निष्ठुर (मानवीय दृष्टि से तर्कहीन) नियमों के साथ एकमेव हो जाते हैं। इसलिए, केवल ईश्वर जो एक मानवीय रचना है जिनकी खोज मनुष्य की कल्पना तथा उसके मूल्यों को साझा करने से हुई है, मानव-जाति के सरोकारों में आश्वासन या सहयोग बन सकता था। अतएव इसे ईश्वरीय कहें या मानवीय मूल्यों की यह दुनिया मानवीय विचार की अनोखी रचना है और हमें इसका स्रोत मनुष्य के विचित्र मानसिक दाय में तलाशना है।

लेकिन, तब हम एक शक्तिशाली निर्णय के विरुद्ध आ खड़े होते हैं जो विचार के अस्तित्व को ही नकारता है। सुखवादियों ने पहले सभी व्यवहारों और मूल्यों को सुख सिद्धान्त में तब्दील करने का प्रयास किया था। उनके वर्तमान उत्तराधिकारी, व्यवहारवादी तथा व्यवहारवादियों में महत्त्वपूर्ण बी.एफ. स्किनर विचार के अस्तित्व को नकारते हैं और जिसको हम मानवीय कहते हैं, उस हर चीज को वह अपनी प्रबलन की आनुषंगिकताओं के अनावश्यक उप-उत्पाद में तब्दील कर देते हैं। यह व्यवहार सम्बन्धी मनुष्य का सम्पूर्ण क्षेत्र किसी अन्य अनुकूलित प्राणी के व्यवहार सम्बन्धी क्षेत्र की तरह है जो सक्रिय अनुकूलन की एक सुस्पष्ट प्रणाली का उत्पाद है (प्रतिवर्तों के अनुकूलन की अत्यधिक जटिल प्रणाली का उसका पदनाम)। पर्यावरण की अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक योजना के साथ ही, जिसे कि वह प्रबलन की आनुषंगिकता कहते हैं, मनुष्य अपने भ्रमों अर्थात गरिमा और आजादी सरीखे मूल्यों के साथ अपने इरादे से मुक्त हो जाएगा तथा वह अपने-आप हूबहू उसका अडिग प्राणी बन जाएगा।[5] विरोधियों और कुछ राजनीतिज्ञों विशेषकर हिटलर और स्टालिन ने उनका पूर्वानुमान किया था और इन लोगों ने हमेशा यह प्रयास किया कि व्यवहारवादी चतुराइयों का मनुष्यों को अपने डिजाइनों के अनुरूप बनाने में उपयोग हो। यह सच है कि स्किनर ने उनके तरीकों को असभ्य माना। लेकिन, उनकी सफलता एक तरह से सीमित रही है; और उन्हें जो कुछ सफलता हासिल हुई है, वह इस तथ्य के चलते इसलिए हासिल हुई है कि

उन्होंने सौन्दर्य-प्रेम, स्त्री-आकर्षण, देशभक्ति इत्यादि सरीखे सुनिश्चित मानसिक सृजनों जिन्हें स्किनर छोड़ देना चाहते थे, की अपील का सहारा लिया है। इसे प्रत्येक व्यवहार और मानसिक संकाय को समविवेकी कहलाने वाले जैव-भौतिक अस्तित्व के जटिल प्रतिवर्तों में तब्दील करने की असफलता का पर्याप्त साक्ष्य होना चाहिए। यदि वे सचमुच विविध आनुषंगिकताओं के उप-उत्पाद हैं जैसा कि स्किनर ने हमसे विश्वास करवाया, तो वे एक अति विशेष प्रकार के उप-उत्पाद हैं जो अपना निजी जीवन प्रारम्भ करते हैं तथा अपने उद्‌भव की जैव-भौतिक दुनिया को सम्पूर्ण रूप से ढक देते हैं। और यह श्रेष्ठ सृजनात्मक आवरण जो मनुष्य को उसके निजी अस्तित्व से अवगत कराता है, उसका विचार है।

सन्दर्भ

1. इम्मैनुएल कांट, क्रिटिक ऑफ प्योर प्रैक्टिकल रीजन।
2. आन्द्रे गिड, फेविलेट्स फेवरियर 1942, इन फेविलेट डि' ऑटोन, मर्क्यूर डि फ्रांस 1949, पृष्ठ 291 (लेखक का अनुवाद)।
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ 293।
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ 294।
5. बी.एफ. स्किनर, बियोंड फ्रीडम एंड डिगनिटी, पेंगुईन 1973 (प्रथम प्रकाशन 1971)।

मनुष्य की आध्यात्मिकता के जैविक मूल

पूर्व के विमर्श का आशय मनुष्य की अनिवार्य जैविक प्रकृति को घटिया बतलाना नहीं है। यह जैविक प्रकृति एक स्वीकार्य तथ्य है। वस्तुत: अंटाएस की तरह मनुष्य की काल्पनिक दुनिया को शक्ति और प्रेरणा के लिए अपने जैविक स्रोत को बार-बार स्पर्श करना पड़ता है। लेकिन, इस बात पर बल देने की आवश्यकता है कि यद्यपि विचारों की दुनिया मनुष्य के जैविक दायों में प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहती है, ये विचार न तो इसमें परिवर्तनीय हैं, न ही इससे निर्धारित होते हैं। वास्तव में, मानवीय विकास के निश्चित बिन्दु पर विशुद्ध जैविक और भौतिक दाय मानवीय व्यवहार को आकार देने में अपनी भूमिकाओं के एक बड़े भाग का त्याग कर देते हैं। जीवविज्ञानियों के अनुसार, मनुष्य के अन्दर के वे अधिकांश व्यवहार जो विकास के निम्न स्तर पर नैसर्गिक वृत्ति से निर्धारित हुए थे, उसके सचेतन निर्णयों के कार्य बन जाते हैं। इससे वह उक्ति और ठोस बन जाती है। यह वह विशिष्ट संकाय ही है जो मनुष्य को अनेक नैसर्गिक अभियानों जिनके लिए उसकी जैविक संरचना में कोई विरोधी या नियामक यन्त्रावली निर्मित नहीं है, पर नियन्त्रण प्रदान करता है। आनुवांशिक संहिता द्वारा सृजित वहीं जैविक अन्त:शक्तियाँ जब मानवीय जीव का सामना विभिन्न पर्यावरणीय दबावों से होता है, बिल्कुल भिन्न व्यवहार विन्यासों को पैदा कर सकती हैं। नैसर्गिक अभियानों में कुछ अभियान प्रकट व्यवहारों में केवल एक विशेष प्रकार के दबाव या अनुभूति के रूप में विकसित हो सकते हैं, जबकि अन्य अभियान अप्रकट रहते हैं। आचारशास्त्री और जन्तुशास्त्री व्यवहार पर वास्तविक आनुवांशिक नियन्त्रण की सीमा के सम्बन्ध में काफी असहमत रहते हैं और आनुवांशिक रूप से प्रदत्त संहिता और श्रेष्ठ प्राणियों के वास्तविक व्यवहार के बीच प्रत्येक के लिए अलग-अलग सम्बन्ध बतलाने के योग्य कोई नहीं रहा है। जीन विभिन्न और कभी-कभी विरोधी प्रकृति की अन्त:शक्ति के साथ बहुत अगणित होते हैं। विकसित

होने वाला वास्तविक व्यवहार जीव और पर्यावरण के बीच एक जटिल अन्त:क्रिया का उत्पाद है-- स्वयं जीव के अन्दर अनेक आनुवांशिक विशेषताओं के कारण उत्पन्न विभिन्न दबावों के बीच कुछ अन्त:क्रिया हो सकती है। जहाँ तक मनुष्य के वास्तविक व्यवहार का सम्बन्ध है, इन सबको चाहिए कि आनुवांशिक दाय को बिल्कुल अनिश्चित बना दे। निश्चित रूप से केवल यही कहा जा सकता है कि आनुवांशिक कारक का दबाव बना रहता है, लेकिन केवल अन्त:शक्ति के रूप में। हालाँकि एक अत्यन्त साधारण उदाहरण इसके अभिप्राय को अंशत: व्याख्यायित कर सकता है। भूख मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और एक भूखे व्यक्ति के लिए भोजन का प्रयास करना स्वाभाविक है। लेकिन, तेज भूख की स्थिति में भी भोजन यदि उसके जीवन के लिए खतरनाक है या अपमानजनक स्थितियों में दिया जाता है तो मनुष्य उस अर्पित भोजन को छूना अस्वीकार कर दे सकता है। यह अनिश्चितता मानव-मन को उन अनेक नैसर्गिक संचालनों के बीच जिसका कि व्यक्ति सामना करता है, मध्यस्थता करने में निर्णायक भूमिका प्रदान करता है। मनुष्य की संस्कृति के बारे में कहा जा सकता है कि यह उस बिन्दु पर उत्पन्न हुआ है जहाँ, मानवीय मस्तिष्क के विकास में, प्रमस्तिष्कीय कोर्टेक्स ने मस्तिष्क स्तम्भ से मानवीय व्यवहार को निर्देशित करने की भूमिका का भार ले लिया था। इस तरीके से सांस्कृतिक अनुकूलन प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण के प्रति आनुवांशिक अनुकूलन को अनुपूरित करता है या वृहत रूप से उखाड़ फेंकता है।

अनुकूलन की इस परवर्ती किस्म को आनुवांशिक अनुकूलन के ऊपर स्पष्ट लाभ प्राप्त है। आनुवांशिक अनुकूलन अनियमित है और ये शायद दासियों हजार वर्षों में घटित होते हैं। इनका कम समय के अन्दर पर्यावरण के परिवर्तन के साथ सामंजन नहीं हो सकता है। इस तरह, प्राय: अनुकूलन की वही पूर्णता एक प्रजाति को सत्यानाश की तरफले जाती थी : अर्थात जब एक प्रजाति ने, जिसने एक निश्चित किस्म के जलवायवी और जैविक पर्यावरण के लिए अपने अंगों और व्यवहार को पूरा कर लिया था, स्वयं को पर्यावरण के अन्दर तापमान, आर्द्रता स्तर या जीवनदायी जन्तु और वनस्पति में अचानक परिवर्तन के सामने बिल्कुल असहाय पाया। इस नये पर्यावरण में, दूसरी प्रजाति ने जिसे पूर्व पर्यावरण के लिए कुछ कम अच्छे ढंग से लैस किया गया था, स्वयं को अत्यधिक अनुकूलित और जिन्दा रहने के योग्य पा लिया,

जबकि वह प्रजाति जिसमें पूर्व पर्यावरण के लिए पूर्ण योग्यता थी, समाप्त हो गयी। सांस्कृतिक अनुकूलन को यह लाभ प्राप्त है कि शारीरिक योग्यता और पर्यावरणीय उद्दीपकों के प्रति निर्धारित व्यवहार सम्बन्धी प्रतिक्रिया पर निर्भर होने की जगह यह प्रजाति के व्यवहार और इसके पर्यावरण, दोनों के बदलाव पर निर्भर करता है। इस तरह सांस्कृतिक प्राणी मनुष्य ने बर्फयुग के बावजूद अपना आश्रय बना लिया एवं आग से स्वयं को गर्म किया। जब शिकार या जंगली फल कम पड़ने या अनिश्चित होने लगे तो उसने अनेक तरह के अन्न और मूल जो कच्ची स्थिति में खाने योग्य नहीं थे, को सेककर और पकाकर उपलब्ध भोजन के दायरे को बढ़ा दिया; हाथियों और असिदन्तयुक्त बाघों, जो काफी शक्तिशाली थे, का सामना होने पर उसने अपनी लड़ाकू क्षमता का प्रारम्भिक हथियारों तथा सामूहिक लड़ाई के तरीकों का आविष्कार कर पूरित किया। अनुकूलन के इस रूप का सबसे बड़ा लाभ यह था कि यह केवल नवीन व्यवहार या तकनीक सम्बन्धी अर्जन के विसरण की दर पर निर्भर करते हुए मनुष्य के जीवनकाल में ही कार्यान्वित और तेजी से प्रजाति के सभी सदस्यों में संचरित हो सकता था। इसका अनिवार्यत: यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य के अन्दर की जैविक रूप से अर्जित विशेषताएँ मर चुकी हैं; इसका अर्थ केवल यह है कि वे सघन रूप से अपनी सांस्कृतिक रूप से अर्जित विशेषताओं से आच्छादित कर दिये गये हैं। लेकिन जातिवृत्तीय विशेषताएँ अपना दबाव डालना जारी रखती हैं, और सांस्कृतिक विशेषताओं को सफलतापूर्वक उनका सामना करना है या उनकी माँगों को पूरा करना हे ताकि व्यवहार सम्बन्धी अव्यवस्था को रोका जा सके।

यह समस्या जन्तुविज्ञानी डसमंड मोरिस के मानवीय चिड़ियाघर प्रभाव के कारण दोगुना तेज हो जाती है।[1] डसमंड मोरिस के अनुसार मनुष्य ने उन छोटी जनजातियों में अपनी विशेषताओं को विकसित किया जो काम करने के बड़े इलाकों के साथ काफी दूर-दूर पर बसी हुई थीं। आधुनिक शहरी व्यवस्था में वे चिड़ियाघर के प्राणियों की तरह शिकंजों में जकड़ी हुई हैं तथा वे व्यवहार सम्बन्धी गम्भीर विकृतियों को झेलती हैं। सौम्य विशेषताएँ भी, जिन्हें मानवीय चिड़ियाघर में निष्फल कर दिया जाता है, अपवित्र हो जाती हैं और समस्याएँ उत्पन्न करती हैं। इसलिए मानवीय संस्कृति का आह्वान स्वयं न केवल अपने सहजवृत्ति सम्बन्धी व्यवहार से सृजित समस्याओं बल्कि अपने

अस्तित्व की मानवीय चिड़ियाघर अवस्था द्वारा विकृत अपने व्यवहार से सृजित समस्याओं को भी सम्बोधित करने के लिए किया जाता है।

परन्तु, सांस्कृतिक अनुकूलन मानवीय व्यवहार के दोहरे प्रोत्साहन सम्बन्धी स्रोत का सृजन कर समस्याओं से जुड़ा हो सकता है; अर्थात प्रकृति (आनुवांशिक विशेषताओं द्वारा प्रस्तुत) और संस्कृति (सामाजिक रूप से अर्जित विशेषताएँ) के प्रोत्साहन सम्बन्धी स्रोत। बिना सांस्कृतिक हस्तक्षेप के आनुवांशिक विशेषताओं में से कुछ जो अपनी उपयोगिता खो चुकी थी अथवा हानिकारक हो सकती थीं, प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया में दम तोड़ चुकी होतीं। सांस्कृतिक हस्तक्षेप के साथ ही वे जिन्दा रहती हैं और शान्त रहती हैं। दूसरी तरफ, कृत्रिम पर्यावरण और कृत्रिम अंगों अर्थात उपकरणों और हथियारों की रचना कर मनुष्य की संस्कृति, जब मनुष्य लम्बी दूरी वाले अस्त्र का इस्तेमाल करता है, निश्चित प्रकार के व्यवहार के विरुद्ध अन्तर्निमित निषेधों के कार्यान्वयन को निष्फल कर देती है (उदाहरणार्थ, आचारशास्त्री खुश करने वाले व्यवहार के अभाव की तरफ इशारा करते हैं जो आक्रमणकारी के आक्रमणशील व्यवहार पर निषेध की तरह काम करता है)। यह मानव प्राणियों के बीच चलने वाले उन अनेक तरह के भावनात्मक विवादों के आधार पर हो सकता है जो प्रकृति-संस्कृति द्वैत द्वारा या मनोविश्लेषणात्मक साहित्य में निर्दिष्ट इड और *सुपर इगो* के बीच के विवाद द्वारा व्यापक ढंग से वर्णित हैं। उपर्युक्त तथ्यों ने काफी मजबूती से इस बात का अनुमोदन किया है कि नैतिक उपदेश, विशेषकर धर्मों से सम्बन्धित उपदेश, आनुवांशिक रूप से अर्जित व्यवहार सम्बन्धी दबाव के विरुद्ध सांस्कृतिक रूप से अर्जित व्यवहार को सहारा देकर इस विवाद के विध्वंसक प्रभाव को परास्त करने के माध्यम हैं। यह अंशत: नैतिक समादेशों में निषेधात्मक संकेतों के आधिपत्य को स्पष्ट कर सकता है।

परन्तु, मानवीय मन पर इतनी अधिक पकड़ बनाने के लिए धर्म और संस्कृति की आवश्यकता तथा उसके नैतिक व्यवहार के निश्चित पहलुओं के पास भी उसके आनुवांशिक दाय में निश्चित रूप से एक आधार होना चाहिए। मसलन, सामाजिक जीवन की शाश्वतता यह अनुमोदन करती है कि मनुष्य में सामाजिक अस्तित्व की आवश्यकता अनेक अन्य सामाजिक प्राणियों की तरह जन्मजात है, और उसकी व्यवहार सम्बन्धी विशेषताओं में से कुछ निश्चित विशेषताएँ इसी से व्युत्पन्न होती हैं। जन्तुविज्ञानी डसमंड मोरिस धर्म की

उत्पत्ति का वर्णन आरम्भिक मानवीय समूहों की आवश्यकता के रूप में करते हैं कि नेतृत्व प्रदान करने तथा सामाजिक संसक्ति को दृढ़ बनाने हेतु दूसरे धर्माध्यक्षों की तरह एक सशक्त नेता मिल सके। वह लिखते हैं :

''यह प्रथम दृष्ट्या आश्चर्यजनक लगता है कि धर्म इतना सफल रहा है, लेकिन इसकी चरम ओजस्विता समूह के सर्वशक्तिशाली प्रमुख सदस्य के समक्ष आत्म-समर्पण कर देने वाली हमारी उस मौलिक जैविक मनोवृत्ति की शक्ति की महज एक माप है जिसे सीधे हमने अपने पूर्वज बन्दर और लंगूर से वंशानुक्रम से प्राप्त किया है। इस वजह से धर्म सामाजिक संसक्ति के सहायक उपकरण के रूप में काफी मूल्यवान साबित हुआ है और इसमें सन्देह है कि हमारी प्रजाति इसके बिना इतनी दूर तक प्रगति की होती, क्योंकि हमारी उत्पत्तियों से सम्बन्धित परिस्थितियों का विलक्षण संयोजन सामने है।''[2]

एक अन्य जन्तुविज्ञानी कोनरांड लॉरेंज मूल्यों की भी जातिवृत्तीय उत्पत्ति की तरफ इशारा करते हैं :

''संस्कृति क्या है? यह ऐतिहासिक रूप से विकसित सामाजिक नियमों और धार्मिक कृत्यों की एक प्रणाली है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी बनी रहती है क्योंकि भावनात्मक रूप से उन्हें मूल्य के रूप में महसूस किया जाता है। मूल्य क्या है? स्पष्टत: सामान्य और स्वस्थ जन उस उच्च मूल्य के रूप में किसी चीज की सराहना करने लायक होते हैं जिसके लिए जीवित रहा जाता है और जरूरी हुआ तो मर जाया जाता है। ऐसा किसी अन्य कारणों से नहीं होता है, बल्कि इस कारण से होता है कि इसका विकास सांस्कृतिक अनुष्ठानीकरण में हुआ था और इसे उन्हें एक सम्मानित बुजुर्ग द्वारा सौंप दिया गया था। तब क्या मूल्य केवल उस वस्तु के रूप में परिभाषित है जिस पर पारम्परिक सामाजिक नियमों का बचाव करने और उन्हें सुरक्षित रखने की हमारी नैसर्गिक अन्त:प्रेरणा को स्थिर कर दिया गया है? पहले और सांस्कृतिक विकास के आरम्भिक चरणों में असन्दिग्ध रूप से यही मामला था। अपने सबसे अच्छे प्रयास में भी वे केवल कार्यात्मक रूप से तर्कसंगत जवाबदेही से नियन्त्रित व्यवहार के सदृश होते हैं। इस सन्दर्भ में वे लवलेश मात्र सामाजिक व्यवहार के नैसर्गिक पैटर्नों से भिन्न नहीं हैं।''[3]

ऊपर में उद्धृत दोनों लेखक धार्मिक व्यवहार की जैविक जड़ों पर जोर देते हैं, तथा जैविक अभियानों के अपकर्षवाद के विरुद्ध शुरू में बतलायी गयी

सावधानी को ध्यान में रखते समय हमारे पास धर्म की पकड़ और सत्ता तथा उनसे निकलने वाले नैतिक समादेशों की व्याख्या करने का कोई वैकल्पिक स्रोत नहीं है। हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि कुछ मायने में मानव प्राणी आनुवांशिक रूप से इस प्रकार के सांस्कृतिक व्यवहार के प्रति सुव्यवस्थित होते हैं।

परन्तु, यद्यपि अधिकांश बड़े धर्म इसकी तरफ झुक जाते हैं, सभी धर्मों में सामाजिक रूप से खतरनाक अभियानों या मनुष्य की इच्छाओं पर निरोधक प्रभाव नहीं होता है। जैसा कि लॉरेंज उसी स्थान पर ध्यान दिलाते हैं, जैविक रूप से विकसित उन व्यवहार सम्बन्धी विशेषताओं में एक को, जिन्हें वह हिंसक जोश कहते हैं, विध्वंसक और सृजनात्मक चैनलों के अनुकूल बनाया जा सकता था। वह कहते हैं :

"वह लक्ष्य जिसका हिंसक जोश बचाव करने के लिए प्रवृत्त रहता है, सांस्कृतिक विकास के साथ बदल जाता है। मूलतः यह निश्चित रूप से ठोस का समुदाय था, व्यक्तिगत रूप से एक समूह के सदस्यगण, जो परस्पर व्यक्तिगत प्रेम और मित्रता के बन्धन में बँधे हुए थे। सामाजिक इकाई के विकास के साथ इसके सदस्यों द्वारा अपनाये गये सामान्य सामाजिक नियम और धार्मिक कृत्य इसे एक अस्तित्व की तरह संगठित करने के मुख्य कारक बन गये और इसी के साथ वे स्वतः इकाई के संकेत बन गये। सही पावलोवियन अनुकूलन और अनुत्क्रमणीय छाप की एक निश्चित मात्रा की प्रक्रिया से इन कुछ हद तक अमूर्त मूल्यों को प्रत्येक मानवीय संस्कृति में प्रथम, सामुदायिक रक्षा प्रतिक्रिया के ठोस लक्ष्य की जगह प्रतिस्थापित किया गया है। हिंसक जोश के कार्य हेतु लक्ष्य के इस पारम्परिक रूप से अनुकूलित प्रतिस्थापन के महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं। एक तरफ, इसके लक्ष्य का मूर्त स्वभाव इसे एक निश्चित अमानवीय पहलू दे सकता है तथा इसे निश्चित तौर पर खतरनाक बना सकता है— मैं पत्नी या बच्चे के लिए चिन्ता करता हूँ; दूसरी तरफ, यह वास्तविक नैतिक मूल्यों की सेवा में हिंसक जोश भरने के लिए सम्भव बना देता है। हिंसक जोश के संकेन्द्रित समर्पण के बिना न कला, न विज्ञान, न ही सचमुच में मानवता का कोई बड़ा प्रयास कभी अस्तित्व में आया होता।"[4]

यह निष्कर्ष निकालना जायज है कि लॉरेंज जिसे 'वास्तविक नैतिक मूल्य' कहते हैं, वह यदि केवल मनुष्य में नैसर्गिक अभियान भी होता जो उस दिशा

में उनकी भावनाओं का पूर्वाभिमुख होता है, हिंसक जोश के समर्थन को सूचीबद्ध कर सकता था। अन्यथा, सभी मनुष्यों के जोश का उग्र ढंग से दूसरे मानव प्राणियों से लड़ने और उनका दमन करने का मार्ग बन गया होता। सचमुच, निश्चित मूल्यों की 'वास्तविक नैतिक' पहचान, मानव प्राणियों के बीच इन मूल्यों के प्रति निश्चित अन्तर्निहित सकारात्मक भाव के भीतर छोड़कर समर्थन का कोई आधार नहीं पा सकती थी। लॉरेंज और अनेक अन्य आचारशास्त्रियों ने दूसरे सामाजिक प्राणियों, विशेषकर प्रधान धर्माध्यक्षों, के अध्ययन से यह अटकल लगाया है कि मनुष्यों में अन्तःविशिष्ट आक्रामक शक्ति होती है जो प्रादेशिकता, क्रम परम्परा और मित्रवत व्यवहार से सम्बद्ध होती है। लेकिन, इन अभियानों के बावजूद मानवीय समाजों ने सामाजिक नियमों को विकसित किया है जो आक्रामकता पर रोक लगाते हैं तथा पारस्परिक सहयोग, प्रजाति के दूसरे सदस्यों के लिए आत्मत्याग और वैज्ञानिक एवं कलात्मक अनुसरणों को प्रोत्साहित करते हैं। इसने इस बात का अनुमोदन किया कि मानव प्राणियों के बीच सुदृढ़ परार्थवादी, अन्वेषणात्मक एवं सौन्दर्यबोधात्मक अन्तःप्रेरणाएँ भी होती हैं जो आक्रामकता के विरुद्ध नैतिक, वैज्ञानिक और कलात्मक मूल्यों को सहारा देती हैं। जहाँ तक अन्वेषणात्मक व्यवहार का सम्बन्ध है, अधिकांश जन्तुविज्ञानी मनुष्य लगायत सभी प्राणियों में इसकी उपस्थिति की बाबत सहमत हो गये। यद्यपि इस नैसर्गिक सौन्दर्यात्मक बोध पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया है, पच्चीस हजार वर्ष पुराने या आधुनिक सभी मानवीय समाजों में कला के कामों की उपस्थिति, मनुष्यों द्वारा निर्मित घरों और उपयोग की अनेक वस्तुओं में सजावट सम्बन्धी विषयों की उपस्थिति तथा सभी ज्ञात समाजों में सत्य और संगीत के कुछ रूप स्पष्ट रूप से इसकी उपस्थिति की तरफ इशारा करते हैं। परोपकारिता की उपस्थिति, हालाँकि, जीवविज्ञानियों के बीच आज भी गम्भीर विमर्श का विषय बना हुआ है। फिर भी, इसके पक्ष में एक सुदृढ़ विचार है।

विशुद्ध आदर्श विशेषता से पृथक एक जैविक विशेषता के रूप में परोपकारिता को हाल से पहचान मिलनी शुरू हुई है, जबकि डार्विन ने इसका एक सदी पूर्व ही वर्णन कर दिया था। कुछ वर्ष पहले 1937-38 में एक नोबेल विजेता शरीरविज्ञानी चार्ल्स शेरिंगटन ने परोपकारिता का गुणगान करने के बावजूद इसे अतिजीवन के विकासात्मक अभियान के विपरीत माना था। उसने लिखा है :

''परोपकारिता का सामना पुरानी मौलिक 'जीने की अन्त:प्रेरणा' से होता है। एक बहुत बड़ा विधि विरोध उत्पन्न हो जाता है जिसका सामना मनुष्य के जीवन को करना पड़ता है। मनुष्य और शेष जीवन के बीच सच में एक नया अन्तर आ गया है। वह अपने उपग्रह पर एक जीवन अर्थात जीवन की क्रान्तिकता के रूप में खड़ा होता है। पुराने 'जीने के अभियान' का मुकाबला करने वाली उसकी परोपकारिता एक विधि-विरोध है जो उसे अन्य सभी ज्ञात जीवनों से अलग करती है। यह इस पर आ जाता है कि उसके दृष्टान्त में इसके द्वारा जीवन का अनुमोदन किये जाने के पूर्व 'जीने का उत्साह' परिस्थितियों का निर्माण करता है।''[5]

दूसरी तरफ, आज के जीवविज्ञानी सामान्यत: प्राणी-जगत में परोपकारिता की उपस्थिति पर सहमत हो जाते हैं। लेकिन, इस बारे में वाद-विवाद है कि कैसे इस तरह का गुण प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया के माध्यम से टिक सकता था। लेकिन, अब इस विशेषता को दूसरों के लिए त्याग करने के सचेतन कार्य का गुण कहे बिना विशुद्ध जैविक पदों में देखा जाता है। चिड़ियों में विद्यमान इस बाद वाली परोपकारिता के बारे में वी सी.वाइने. एडवर्ड्स लिखते हैं :

''...उदाहरणार्थ, हम जानते हैं कि चिड़ियों की अनेक प्रजातियाँ हैं जिनमें प्रजनन करने वाले युग्म घोंसला बनाने या घोंसले में काम पर लगे माँ-बाप को खिलाने या छोटे की देखभाल करने में कोलोनी या सामाजिक समूह के अन्य सदस्यों से सहायता ग्रहण करते हैं। वे जो सहायता कर अपनी ऊर्जा का सामान्य भलाई के लिए त्याग करते हैं और बदले में उन्हें कोई तत्काल या निश्चित लाभ नहीं मिलता, इसका सामाजिक रूप से बहुमूल्य अनुकरण होता है।''[6]

एक निश्चित प्रकार की परोपकारिता भेड़िया जैसे कुछ परभक्षी प्राणियों में पायी जाती है जो झुंड में आक्रमण करते हैं। आक्रमण के क्रम में कुछ व्यक्ति अपना जीवन त्याग दे सकते हैं, लेकिन समूचे समूह को शिकार करने में लाभ होता है। प्रजाति को इसका स्पष्ट लाभ मिलता है, यद्यपि व्यक्ति अपना जीवन त्याग देता है। इसलिए, जीव विज्ञानियों की प्रवृत्ति व्यक्तिगत चयन के विचार को समूह चयन और रिश्तेदार चयन से अनुपूरित करने की होती है जिसमें इस तरह के परोपकारवादी व्यवहार के माध्यम से समूचा समूह या रिश्तेदार व्यष्टि की कीमत पर अतिजीवन के संघर्ष में कुछ प्राप्त

करना है। इस तरीके से परोपकारवादी गुण बना रहता है। हालाँकि, जिस तरीके से परोपकारिता इन प्राणियों में या उन प्राणियों में जो विकासात्मक पैमाने के उच्चतर स्तर पर खड़े होते हैं, कार्य करती है, इनमें एक अन्तर होता है। वी.सी.वाइने.एडवर्ड्स जिसे हमने ऊपर में उद्धृत किया है, वह निम्न प्राणियों में पाये गये परोपकारवाद से मनुष्य के अन्दर के परोपकारितावाद के अन्त को संकेतित करते हुए मानवीय नैतिकता को मनुष्य के इस नैसर्गिक परोपकारितावाद के रूप में चिह्नित करते हैं। वह लिखते हैं :

''इस व्याख्यान में मेरा वास्ता विशेषत: व्यष्टि और समाज के बीच के विवाद से है जो मनुष्य हेतु नैतिकता या सामाजिक आचार में रूपान्तरित हो गया है। वर्तमान उद्देश्य से नैतिकता ठीक परोपकारितावाद की तरह है; जैसा कि मैंने कहा है, इसका अभिप्राय है पहले समूह के कल्याण को रखना और व्यक्तिगत लाभ को इसके अधीन लाना। लेकिन, मनुष्य में तथा एक मामूली हद तक दूसरे स्तनधारियों में परोपकारितावादी आचरण निम्न प्राणियों में पाये जाने वाले उस गुण से विभिन्न भौतिक आधार पर विश्वास करने के लिए आया है।

''ये निम्न प्राणी जैसा कि हमने देखा, सामाजिक संहिता का पालन करते हैं क्योंकि ऐसा करने के लिए वे दृढ़ रूप से बाध्य होते हैं : उनके लिए 'मूसा के दस धर्मादेश' आनुवांशिक रूप से निर्धारित हैं तथा उनका अनुपालन करने की नैसर्गिक प्रेरणा अनिवार्य है। अनेक अन्य क्षेत्रों में, हालाँकि, ये प्राणी अनुभव या अन्तर्दृष्टि के आलोक में अपने व्यवहार को अनुकूलित करने और बदलने के लिए स्वतन्त्र हैं।''[7]

यदि सामाजिक संहिताएँ परिवर्तनशील पर्यावरणीय दबावों के प्रति तेज अनुकूलन सुनिश्चित करने हेतु आनुवांशिक संहिता का स्थानापन्न बनने वाली होती हैं तो मनुष्य को नये पर्यावरणीय परिवर्तनों के साथ तेजी से सामंजस्य बैठा लेने के योग्य बनाने हेतु एक नैसर्गिक अनाग्रह हो जाता है, तथा एक आचार संहिता के रूप में अर्जित व्यवहार को तेजी से भीतर करने की एक अन्तर्निर्मित क्षमता होनी चाहिए। प्रथम क्षमता की उपस्थिति परिवर्तनशील पर्यावरण के सामंजस्य में मानवीय संस्कृतियों के तेज विकास से साबित होती है। दूसरी क्षमता की उपस्थिति भी मानवों में विकासात्मक प्रक्रिया के अध्ययन से जाँची जाती है।

मनुष्य में ज्यादातर उसका व्यवहार चाहे वह मौखिक या धार्मिक या पेशेवर हो, सीखा जाता है। यह सभी ज्ञान मनुष्य के आरम्भिक जीवन के दौरान कम समय में सामाजिक रूप से संचरित प्रत्येक चीज के तीव्र स्वांगीकरण से चिह्नित होता है। यह ज्ञान बुजुर्गों से मिलने वाली नैतिक संहिताओं के तीव्र आन्तरिकीकरण को भी शामिल करता है। आरम्भिक बचपन के दरम्यान ही मनुष्य बुजुर्गों की तरफ से आने वाले धर्मादेशों को सम्पूर्णत: अविवेचित रूप में स्वीकार करता है। सुप्रसिद्ध विकासात्मक मनोवैज्ञानिक जीन पिएजेट ने सावधानीपूर्वक बच्चों में प्रथम नैतिक व्यवहार के बुर्जुआकरण को लिपिबद्ध किया है जो स्पष्टत: माँ-बाप या बुजुर्गों द्वारा प्रदत्त संहिताओं के साथ सुदृढ़ जुड़ाव की तरफ इशारा करता है। संकेतों या संहिताओं के साथ सबसे शक्तिशाली जुड़ाव विकास के आरम्भिक चरण में विकसित होता है। बाल-व्यवहार के अपने अध्ययन तथा बच्चों द्वारा नैतिक विषयों से सम्बन्धित प्रश्नों के दिये गये जवाब के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :

''नैतिक प्रतिबन्ध का लक्षण वर्णन एकपक्षीय सम्मान द्वारा किया जाता है... यह सम्मान नैतिक बन्धन एवं कर्तव्यबोध का स्रोत होता है : सम्मानित व्यक्ति से मिलने वाला प्रत्येक धर्मादेश एक अनिवार्य नियम का प्रस्थान बिन्दु होता है। यह हमारी जाँच से काफी सन्तुष्ट हुआ है। सत्य बोलने की बाध्यता, चोरी नहीं करने इत्यादि सरीखे अनेक कर्तव्य हैं जिसका बच्चे बहुत गहराई से अनुभव करते हैं, यद्यपि वे अपने मन से निकलते नहीं हैं। वे वयस्कों से मिलने वाले तथा बच्चों द्वारा स्वीकृत समादेश हैं। इसलिए, मूलत: कर्तव्य की यह नैतिकता अनिवार्य रूप से पराधीन है। वयस्क की इच्छा का पालन करना सही है, अपनी निजी इच्छा रखना गलत है...।''[8]

नैतिक लगाव का यही सबसे पहला चरण है, और बच्चों के बारे में जो सत्य है, वह उन अनेक समाजों के भीतर वयस्कों के बारे में भी सत्य हो सकता है। इनमें वयस्क भी पितातुल्य दिखने के बावजूद, चाहे वे भगवान हों, कोई दूसरे देवता हों, महान पैगम्बर या कानूनदाता हों, बच्चों जैसा व्यवहार करते हैं। वयस्कों द्वारा दी गयी नैतिक संहिताओं पर आरम्भिक बाल्यावस्था में मनुष्य का निर्धारण एवं पूर्व में उद्धृत डसमंड मोरिस का धर्म की जैविक उत्पत्ति सम्बन्धी विचार, इन दोनों के बीच के सम्बन्ध को देखना आसान है। परेशान करने वाली समस्याओं से रूबरू वयस्क बच्चों की तरह पिता समान

लोगों के मार्ग निर्देशन को प्राप्त करते हैं। वे इस मार्ग निर्देशन को अचूक मानते हैं। यह उनकी नैतिक जटिल निर्णयों की व्यक्तिगत जवाबदेही से बचने में मदद करता है। अनुभव और ज्ञान बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं, लेकिन इन संकेतों से इस गहरे भावनात्मक लगाव को जो प्राय: कष्टप्रद हो सकता है तथा तात्कालिक इच्छाओं को निष्फल करता है, बगैर किसी जैविक आधार के स्पष्ट कर पाना मुश्किल है। ठीक जिस तरह से भाषा के मामले में होता है (चोम्स्की द्वारा यथा अनुमोदित) कि बच्चे के लिए किसी भाषायी समूह का सीमित अभिव्यक्तिकरण भाषा की विस्तृत व्याकरण-सम्मत संरचना को जैसा कि वे करते हैं, भाषा सीखने की नैसर्गिक शक्ति के बिना अपने भीतर डाल पाना ही पर्याप्त नहीं होगा, उसी तरह नैतिक संहिताओं के आरम्भिक अधिचिह्न को उसकी पकड़ की दृढ़ता के साथ पैतृक आदेशों को अपने भीतर बैठाने की कुछ जन्मजात प्रवृत्ति के बिना व्याख्यायित नहीं किया जा सकता है। मूर्धन्य प्राणी मनुष्य ने खतरनाक आन्तरिक प्रेरणाओं के विरुद्ध अपनी आरम्भिक मनोवैज्ञानिक अन्तर्बाधाओं को निमग्न कर दिया है। मनुष्य में यह आन्तरीकृत नैतिक आदेश अन्तर्बाधात्मक और नियामक कार्यों का अधिग्रहण करता हुआ प्रतीत होता है।

जीन पिएगेट कमोबेश डुर्खिन के विचार का ही समर्थन करते हैं कि नैतिक नियन्त्रण समाज के नियन्त्रण से अलहदा नहीं है, और ईश्वर समाज के मात्र दैवीकरण हैं। पवित्र और अपवित्र के बीच का अन्तर जो धर्मों के महत्त्वपूर्ण हिस्से की रचना करता है, इस तरह महज आन्तरिकृत सामाजिक नियन्त्रण और सामाजिक तथा व्यक्तिगत को संकेतित करने वाली वस्तुओं के बीच की भिन्नता प्रतीत हुआ। लेकिन, वह एक कदम आगे बढ़ता है और यह दिखलाता है कि जिस तरह बच्चे बड़े होते हैं और एक-दूसरे का तथा अपने माँ-बाप का सहयोग करते हैं, वयस्कों पर निर्भरता सहयोग को धीरे-धीरे स्थान देने लगती है, तथा नैतिकता की एक उच्च अवस्था अनुघटित होती है - जहाँ संहिता पराधीन होने की बजाय स्वायत्त बन जाती है। अर्थात, इस अवस्था में नैतिक संहिताएँ बाहर से दी गयी कोई चीज मालूम नहीं पड़ती हैं, बल्कि चेतना की आवाज यानी एक स्वायत्त इच्छा की आवाज जैसी अनुभव होती है। इस अवस्था में सही के विचार की जगह नैतिक रूप से अच्छे का विचार आ जाता है। वह लिखते हैं :

"...क्योंकि हमने बच्चों में दो नैतिकताओं के अस्तित्व को स्वीकार किया है। पहला, प्रतिबन्ध से सम्बन्धित तथा दूसरा, सहयोग से सम्बन्धित। प्रतिबन्ध की नैतिकता उस विशुद्ध और सहज कर्तव्य तथा पराधीनता से सम्बन्धित है। बच्चा वयस्कों से उन नियन्त्रणों की एक निश्चित संख्या स्वीकार करता है जिनके आगे वह झुक जाता है, चाहे परिस्थितियाँ जो भी हों। सही वह है जो इन नियन्त्रणों के अनुरूप हो जाता है; गलत वह है जो ऐसा करने में असफल हो जाता है; इस विचार में आशय की भूमिका कम रहती है और जवाबदेही सम्पूर्ण रूप से वस्तुनिष्ठ होती है। लेकिन, पहले इस नैतिकता के समानान्तर तथा बाद में इसके मुकाबले, धीरे-धीरे सहयोग की नैतिकता विकसित होती है जिसका मार्गनिर्देशन करने वाला सिद्धान्त एकात्मकता है तथा जो अन्तरात्मा की स्वायत्तता पर प्राथमिक जोर डालती है, अभिप्राय पर जोर डालती है और फलस्वरूप विषयनिष्ठ जवाबदेही पर जोर डालती है। अब यह ध्यातव्य है कि यद्यपि पारस्परिक सम्मान के नैतिक नियम मूल्यों की दृष्टि से उस एकपक्षीय सम्मान का विरोध करते हैं, पारस्परिक सम्मान, फिर भी इस विकास के कारणों की दृष्टि से उस एकपक्षीय सम्मान का स्वाभाविक परिणाम होता है। यहाँ तक कि बच्चा मनुष्यता की ओर प्रवृत्त होता है और वयस्क के साथ उसका सम्बन्ध समानता की ओर प्रवृत्त रहता है। प्रतिबन्ध से सम्बन्धित एकपक्षीय सम्मान कोई स्थायी तन्त्र नहीं होता है तथा साम्यावस्था जिसकी ओर यह प्रवृत्त होता है, वह पारस्परिक सम्मान के अलावा कोई दूसरी चीज नहीं होती है...।"[9]

वह इस विकासात्मक प्रक्रिया को समाज तक भी विस्तारित करते हैं तथा विकास के आरम्भिक चरण को डुर्खिन के खंडयुक्त समाज के समान मानते हैं जहाँ नियन्त्रण की नैतिकता तथा बुजुर्ग लोगों की प्रबलता प्रभावी होती है और जैविक समाज के साथ विकास का पश्चमागी चरण का जहाँ नैतिकता पारस्परिक सम्मान और सहयोग पर आधारित है, ज्यादा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ फिर हमें विशेष और निश्चित से सामान्य की तरफ बढ़ने की मानवीय मन की प्रवृत्ति दिखलाई देती है, जहाँ निश्चित सम्बन्ध एक मूर्त आदर्श में बदल गया है। अन्ततोगत्वा यह मूर्त आदर्श ही है जो मनुष्य के निश्चित व्यवहार का नियन्त्रण करना शुरू कर देता है। आदर्शीकरण में मानवीय मन के पास उस प्रवृत्ति को बढ़ाने की सामर्थ्य होती है जो इसे भीमकाय रूप में जकड़

लेती है और यह भीमकाय रूप उन नैसर्गिक मनोवृत्तियों से जिनका यह समर्थन करती है, लड़ने में मदद करता है।

पूर्वोक्त विवेचना में हम इस उलझन का जवाब पा सकते हैं जिसमें अस्तित्ववादी चुनौती ने नैतिक विषयों को परोसा था : अर्थात इस प्रश्न का जवाब कि 'नैतिक संहिताओं की सत्ता कहाँ से आती है?' इसका उत्तर यह है कि नैतिक संहिता का स्रोत किसी बाह्य सत्ता या वैज्ञानिक-दार्शनिक सत्य में निहित नहीं होता है, बल्कि माँ-बाप द्वारा बताये गये समाज के नियन्त्रणों को अन्तर्निहित रूप से स्वीकार करने की मनुष्य की जन्मजात मनोवृत्ति में निहित होता है। समाज से मिलने वाले तथा बुजुर्गों द्वारा बताये गये नैतिक नियन्त्रणों के एक समुच्चय का गुण जो भी हो, बच्चों की तरह वयस्कों को भी एक पवित्र संहिता के कारण समस्त सम्मान के साथ उनको स्वीकार करने के लिए सुव्यवस्थित किया जाता है। चूँकि, ये नियन्त्रण सामाजिक तन्त्र के हिस्सा हो जाते हैं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचरित होते हैं तथा परिष्कृत धार्मिक कृत्यों के भाग बन जाते हैं, इसलिए ये प्राचीन परम्परा से सम्बद्ध किये जाने से अधिकार अर्जित करते हैं। लेकिन जैसा कि हम देख चुके हैं, ये संकेत निरंकुश नहीं हैं बल्कि हमारे जीवन के एक उपचार के रूप में विकसित होते हैं तथा निम्न प्राणियों के अन्दर दृढ़ता से निर्धारित की गयी नैसर्गिक व्यवहारात्मक बनावट के प्रतिनिधि होते हैं। इन नियन्त्रणों या संहिताओं के अन्तिम स्रोत के सम्बन्ध में यह दार्शनिक वाद-विवाद इस साधारण कारण से बेमानी है कि इस तरह के स्रोत का अस्तित्व समाज में विस्तार करने वाले मानवीय मन के बाहर नहीं होता है। प्रत्येक चीज आदर्श की तरह मानवीय समुदाय में धारित विचार-क्षेत्र के सिवाय इन संहिताओं का काई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, तथा फिर भी, वे एक विचारणीय सामाजिक प्राणी के रूप में मानवीय अस्तित्व की एक अनिवार्य स्थिति का निर्माण करते हैं। वे मानव प्राणियों के बीच गहन रूप से अनुभूत आन्तरिक अन्त:प्रेरणा से उत्पन्न होते हैं तथा लोलुपता से वे वृद्धिशील लोगों की काफी तादाद द्वारा स्वीकार कर लिये जाते हैं। वे सचेतन रूप से प्रकल्पित नियमों और संस्थाओं से एक भिन्न श्रेणी में होते हैं जिसमें वे मानवीय इच्छाओं से सम्बन्धित नहीं होते हैं तथा प्राय: उनकी मुख्य भूमिका मानवीय आवेशों और इच्छाओं का नियन्त्रण करने में होती है। यह उल्लेखनीय है, इन समादेशों का सर्वोपरि स्वर नकारात्मक होता है : वे जान से नहीं मारेंगे,

व्यभिचार नहीं करेंगे, आपकी भूख को नियन्त्रित करेंगे, आपकी इन्द्रियों की माँगों को नियन्त्रित करेंगे इत्यादि। इसके विरुद्ध प्रत्येक अनैतिक मानवीय प्रयास को अपनी पूर्ति के लिए आनन्द और खुशी की तलाश कर रही इच्छाओं के द्वारा प्रोत्साहित किया जाता है। सौन्दर्यबोधात्मक प्रयास भी किसी तरह के सौन्दर्यबाधात्मक आनन्द से प्रोत्साहित होते हैं। नैतिक संहिताओं की यह एकात्मकता मानवीय कार्यों क पीछ के दोहरे प्रोत्साहनों में उत्पन्न हो सकती हैं। इस सन्दर्भ में हमने पूर्व में चर्चा की है। अर्थात, एक तरफ, उन नैसर्गिक अन्त:प्रेरणाओं की माँग होती है जिन्हें मनुष्य अधिकांश अन्य प्राणियों के साथ साझा करता है, तो दूसरी तरफ, उस संस्कृति की माँग होती है जिन्हें मनुष्य ने अर्जित किया है तथा जो प्राय: पूर्व की तरह की अन्त:प्रेरणाओं का विरोध करती हैं। ये दो तरह के प्रोत्साहन बाह्य शक्तियों के रूप में प्रक्षेपित होते हैं तथा ये बाह्य शक्तियाँ मानव प्राणियों पर प्रतिकूल दबाव डालती हैं। कतिपय श्रेष्ठ धर्मों में उनका आदर्शीकरण अच्छाई और बुराई की शक्तियों में होता है: यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्मों में व ईश्वर और शैतान के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं, उपनिषदीय धर्म जो अत्यधिक दार्शनिक हैं, इसमें वे निवृत्ति और प्रवृत्ति (एन्द्रिक आनन्दों से लगाव तथा विलगाव) के रूप में प्रस्तुत होते हैं और बौद्ध धर्म में बुद्ध और मार के रूप में प्रस्तुत होते हैं। प्रत्येक स्थिति में दुर्भावना मनुष्य को भौतिक खुशियाँ प्राप्त करने अर्थात पशु इच्छाओं की पूर्ति करने हेतु प्रोत्साहित करती है, जबकि सद्‌भावना उसे उन सबसे दूर रहने की चेतावनी देती है।

इस प्रकार के आदर्शीकरण तथा एक परिष्कृत ब्रह्मांडशास्त्र एवं पुराणशास्त्र में इन दो विरोधी दबावों का समावेशन मनुष्य की उसके स्वार्थी आवेगों और भूखों के प्रोत्साहनों से ऊपर उठने के उसके संकल्प में मदद करता है तथा उस संहिता के अनुरूप बन जाता है जो सामाजिक माँगों की लय में होता है। पुराणशास्त्रीय परिष्कार मूल्यों को उसके जीवन के प्रत्येक पहलू से जोड़ता है, मानवीय इच्छाओं के विभिन्न प्रकारों और सूक्ष्मभेदों के बीच बारीक अन्तर करता है, तथा उन्हें धार्मिक अनुष्ठानों से जोड़ता है। धार्मिकीकृत व्यवहार प्राणियों में शाश्वत होता है तथा प्रभावी ढंग से धर्मों में मजबूत हो रहा है क्योंकि अपरीक्षित और अनिश्चित पर्यावरण के बीच व्यवहार के धार्मिकीकृत साँचे में एक व्यक्ति को निश्चितता और सुरक्षा का बोध होता है। इसलिए,

प्रत्येक स्थिति में लोगों को निर्देशन का एक बोध दिया जाता है। लेकिन, हमारी पशु प्रेरणाओं के दमन की अपनी सीमाएँ हैं और इसलिए, अधिकांश धर्म कभी-कभी उन हर्षोल्लासों में प्रतिबन्धों और संहिताओं के धार्मिक उल्लंघनों को स्वीकार भी करता है जो कभी-कभी रहस्यानुष्ठान के रूप में प्रकट होते हैं। शायद यह सेफ्टी वाल्व की तरह काम करते हैं।

आचार संहिताएँ जिस तरह से उत्पन्न होती हैं, ये उन्हें एक अधिकार प्रदान करती हैं जिसे तर्कसंगत विश्लेषण या कारण के अधीन नहीं किया जा सकता है क्योंकि अन्तिम विश्लेषण में वे मानवीय अनुभूतियों के अन्दर उत्पन्न होती हैं। इनके पीछे निश्चित रूप से एक प्रकार की बुद्धिसंगतता है क्योंकि अन्ततोगत्वा लोगों ने अपने कल्याण और अतिजीवन के लिए संहिताओं की उपयोगिता को महसूस किया है। लेकिन, लोग उन तक एक लागत मूल्य-लाभ प्रकार के तर्कसंगत विचारों के माध्यम से नहीं पहुँचते हैं। निस्सन्देह, ये संहिताएँ किसी अचूक मार्गदर्शक को शामिल नहीं कर सकती हैं। लेकिन, ये कुल मिलाकर समुदाय की अच्छी सेवा करती हैं, अपनी उत्पत्ति में अतार्किक होने के तौर पर ये वाद-विवाद या सन्देह के विषय नहीं हैं और इस तरह, ये अपनी अपील के वृहत्तर आधार और निश्चितता से बुद्धिसंगतता की कमी को पूरा करती हैं। लोग अपनी भावनाओं से प्रेरित हो जाते हैं। ऐसा इस पसन्द की वजह से होता है कि उनका विश्वास आसानी से इस तथ्य में देखा जा सकता है कि प्रोफेसरों और दार्शनिकों द्वारा प्रकट की गयीं अनेक नैतिक संहिताएँ रही हैं जिनके पीछे उत्कृष्ट तर्क है, लेकिन कुछ लोग किसी बहुत बड़े जनसमर्थन को सूचीबद्ध कर लिये हैं यद्यपि वे मित्र प्रोफेसरों और दार्शनिकों के बीच प्रशंसा बटोर ले सकते थे। लेकिन, इसकी अपील की तर्कशक्ति की अप्रासंगिकता में धार्मिक या छद्म-धार्मिक सम्प्रदायों के माध्यम से मनुष्यों को नियन्त्रित करने के विध्वंसक आवेगों का खतरा भी निहित होता है।

दो नये धार्मिक सम्प्रदाय (या वस्तुत: छद्म धार्मिक सम्प्रदाय) जो सबसे ज्यादा विकसित हुए हैं, फासीवाद-राष्ट्रवाद एवं साम्यवाद हैं। इनमें से पहला, घोषित तौर पर तर्क बुद्धिवाद का विरोधी रहा है तथा दूसरा, यद्यपि अपनी उत्पत्ति में तर्कबुद्धिवादी एवं वैज्ञानिक होने का दावा करता है, अपनी वैज्ञानिक-तर्कसंगत नींव एवं राष्ट्रवाद, मसीहावाद, और अनेक तरह की भावुकता के साथ अपने संरेखण से अपने विचलन के अनुपात में सीधे समर्थन प्राप्त कर

लिया। साम्यवाद ने अतिरिक्त तौर पर ईसाइयत के धार्मिक मूल्यों से अपील की है जिसे पूर्व से ही विश्व के अनेक हिस्सों में लोगों के बीच गहरे रूप से अन्तर्निहित किया जा चुका था। लेकिन, इस तरह के धार्मिक सम्प्रदायों की आयु कम होती है, क्योंकि सांस्कृतिक अनुकूली क्रियाविधि आत्मशोधक होती है तथा अत्यधिक बद्धमूल सुदम्य अनुभूतियाँ उनके विरुद्ध आना शुरू कर देती हैं।

अपनी प्रकृति के अनुरूप धर्म के नैतिक मूल्यों को लोग अपने शामनों और पैगम्बरों के माध्यम से प्राप्त करते हैं जो एक बड़े मिशन के बोध के साथ भावनात्मक रूप से आवेशित रहते हैं। इन मूल्यों का इलहाम या तो एक शामन के माध्यम से होता है जब वह आत्म-विस्मृति की अवस्था में रहता है और यह अनुभव करता है कि वह केवल उस देवता का यान है जो उसके माध्यम से बोलते हैं या फिर पैगम्बरों के माध्यम से होता है जो ईश्वर या देवदूत की उस वाणी या आन्तरिक वाणी को सुनते हैं जिसका स्रोत किसी उच्च्च शक्ति में रहता है। ऐसे विचार हमेशा संकट के समय उत्पन्न होते हैं जब पुराने मूल्य एक गलत पात्र में पड़े प्रतीत होते हैं या तात्कालिक परिस्थितियों में अपर्याप्त साबित होते हैं।

नैतिक उपदेशक जिस तरह से अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करते हैं तथा कवि या कलाकार जिस तरह से स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं, दोनों के बीच एक समानता है। दोनों काफी संवेदनशील होते हैं तथा अपने विचार और अनुभूतियों में उस समाज के प्रबल सरोकार को आत्मसात कर लेते हैं जिस समाज में वे रहते हैं। लेकिन, अभिव्यक्ति इन दोनों में अलग-अलग रूप ग्रहण करती है। महान कवि या कलाकार अपनी अनुभूतियों को सौन्दर्यबोधात्मक रूप प्रदान करते हैं जिसमें किसी को सम्मिश्रित उदात्त और छायावाद या अशुभ भी मिल सकता है; चूँकि कलाकृति मानवीय स्थिति के विरोधों के जरिये बनी रहती है और उनका आत्मसात करती है, इसलिए यह धीरे-धीरे उभरते हुए तथा कलात्मक रूप की सर्जना के माध्यम से उन पर विजय प्राप्त करते हुए पैदा होती है। लेकिन, चूँकि कलाकृति की रचना लोगों के सुख और दु:ख से की जाती है तथा यह उनके अनुभवों से सम्बन्धित होती है, इसलिए लोग तुरन्त इसमें अनुभूतियों की अनुगूँज सुनते हैं और इसके वशीभूत हो जाते हैं। उसी तरह, नैतिक उपदेशक काफी संवेदनशील व्यक्ति होते हैं जिन्हें अपने

समय के महान नैतिक विषयों की चिन्ता रहती हैं और जैसे ही उनके ऊपर के प्रतिकूल दबावों के बीच का आन्तरिक विवाद उन्मत्त पड़ाव पर पहुँच जाता है, सहसा एक अन्तर्दृष्टि आ जाती है अर्थात क्रिस्टलन का गुण और वह एक उच्चतर दुनिया में उन्नयित महसूस करते हैं जहाँ से वह स्पष्टता के साथ अच्छाई की शक्तियों और बुराई की शक्तियों के बीच के महान विभाजन और सही मार्ग को देख सकते हैं। उनके समक्ष परेशान करने वाली समस्याओं के झुरमुट से होकर गुजरने वाला मार्ग स्पष्ट रूप से रेखांकित हो जाता है। यह स्पष्टता या तो ईश्वर के नियन्त्रण से आ रही प्रतीत होती है या उसकी अन्तर्वाणी से आ रही मालूम पड़ती है; यह एक असन्दिग्ध और अमिट रूप से निर्धारित आचार संहिता है जिससे वापस नहीं लौटना है। उनका पहले का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। वे या तो बुद्ध, ईश्वर-पुत्र, ईश्वर के सन्देशवाहक होते हैं या ज्यादा मर्यादित रूप में अपनी अन्तरात्मा से बोलने वाले ईश्वर के भोंपू होते हैं। अब उन्हें उस सन्देश के लिए जीना या मरना होता है जो उनके माध्यम से दिया गया होता है। दूसरा कुछ भी नहीं होता है। पैगम्बर को पितातुल्य दिखना पड़ता है तथा विश्वासोत्पादक बनने के लिए, उसे अलौकिक शक्तियों से तर होना चाहिए। चूँकि वह लोगों को जो मूल्य प्रदान करते हैं, वे सीधे उनकी चिन्ता से सम्बन्धित होते हैं, इसलिए वे धीरे-धीरे अपनी महत्ता का अहसास करते हैं तथा पैगम्बर को अनुयायियों का एक बहुत बड़ा समाज मिल जा सकता है। नैतिक संहिताओं को जैसे-जैसे समाज द्वारा स्वीकार किया जाना शुरू कर दिया जाता है, उनके आन्तरक के चारों तरफ निश्चित समस्याओं से सम्बन्धित बहुशाखन विकसित होना शुरू हो जाता है जिनके समाधान हेतु संहिताओं के अनुयायियों से प्रार्थना की जाने लगती है।

चूँकि इस तरीके से पैदा होने वाली नैतिक संहिताएँ एक खास समाज का उत्पाद होती हैं, इसलिए उस समाज की विशेष समस्याएँ उनके चरित्र पर ज्यादा रंग चढ़ा देती हैं। यदि समाज अनुदार है तथा एक बैरी पर्यावरण में रहता है तो उनमें वे तत्त्व हो सकते हैं जो मानवीय आक्रामकता को रोकने की बजाय इसे उन लोगों के विरुद्ध विचलित करने का प्रयास करते हैं जो उस बैरी पर्यावरण का निर्माण करते हैं। ये तत्त्व उस बैरी पर्यावरण को बुराई के एजेंट के रूप में चित्रित करते हैं। जैसा कि कोनराड लॉरेंज ने प्रदर्शित किया है, प्राय: सामाजिक प्राणियों के समूह के अन्दर एकता बाह्‌य समूह के विरुद्ध

दुश्मनी में वृद्धि से बढ़ जाती है। मनुष्य की प्रवृत्ति एक सामाजिक प्राणी होने के नाते उसी तरह की हो सकती है। धर्म प्राय: इस प्रकार की उत्पत्ति के साथ आक्रामक रूप अख्तियार कर लेता है तथा समूह के अन्दर का विवाद समाप्त करते हुए दूसरे समूहों के विरुद्ध और ज्यादा तेज विवाद उत्पन्न कर देता है। इस तरह, नास्तिक व्यक्ति को बर्बाद करने या धर्मान्तरित कराने का धर्मान्तरणकारी उत्साह पुनर्निदेशित आन्तरिक आक्रामकता का केवल छद्मवेषी रूप हो सकता है। इन कारकों के कारण सभी धार्मिक संहिताएँ हमारी निम्न वृत्ति को रोकने की दिशा में काम करते हुए अनिवार्यत: सर्वार्थवादी नहीं होती हैं।

धार्मिक संहिताएँ अपन प्रसंग में विशिष्ट होती हैं। लेकिन, उस प्रसंग में उनके नियन्त्रणों को निरंकुश होना पड़ता है, अर्थात वाद-विवाद से परे होना पड़ता है, यदि उन्हें उस प्रकार की अपील करनी हो जिस प्रकार की अपील की अपेक्षा धर्मों से होती है। संस्कृति की अन्त:क्रिया का क्षेत्र जिसके अन्दर पैगम्बर पैदा होते हैं, जितना विस्तृत होता है धर्म की नैतिक संहिताएँ उतनी ही ज्यादा सर्वार्थवादी होती हैं। नया पैदा होने वाले धर्म को पारम्परिक धर्मों के उस पर्यावरण में तथा समाज की उस सम्पूर्ण संस्कृति ग्रन्थि में भी विकसित होना पड़ता है जिसमें धर्म पैदा होता है। चूँकि धर्म मनुष्य की चुनौती का जो कि उसकी स्थिति की सम्पूर्णता से आयी होती है, सामना करने का प्रयास करता है, इसलिए इसे संस्कृति के प्रत्येक पहलू को ध्यान में रखना होता है। इस सन्दर्भ में यह अनिवार्यत: उस विज्ञान से भिन्न होता है जो धर्म के आदेशात्मक कार्य के विरुद्ध वर्णनात्मक होने के अलावा जिस समस्या का समाधान ढूँढ़ता है उसे विलग करने का भी प्रयास करता है, और ज्यादा यथातथ्य होने के क्रम में लगातार इसके फोकस को संकीर्ण करने का प्रयास करता है। यह भी एक कारण है कि विज्ञान सामाजिक समस्याओं का समाधान करने का यथेष्ट उपकरण कभी क्यों नहीं हो सकता है, यद्यपि यह उनके समाधान हेतु प्रासंगिक सूचना की सम्पत्ति को उपलब्ध करा सकता है। वह व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करने में धर्म को शामिल करता है, यह मानवीय व्यक्तित्व की सम्पूर्णता है जो शामिल किया जाता है। यह आर्थिक, राजनीतिक और प्राकृतिक पर्यावरणीय समस्याओं को शामिल कर सकता है। लेकिन, यह भावना की समस्याओं और अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों को भी शामिल करता है। इस सन्दर्भ में केवल विचारधारा धर्म का स्थान ले सकती

है जो अनेक सन्दर्भों में धर्म सदृश होता है। यही कारण है कि कोई वैज्ञानिक धर्म या विचारधारा नहीं हो सकती है। जब धर्म या विचारधारा विश्व की आभासी वैज्ञानिक या वस्तुनिष्ठ तस्वीर प्रस्तुत करने का दावा करती है, तब भी तस्वीर धर्म या विचारधारा के नैतिक पूर्वग्रह से काफी आवेशिष होती है और दुनिया को यह प्रदर्शित करने के लिए इस तरीके से प्रस्तुत किया जाता है कि इसमें प्रत्येक चीज का अन्तत: उन नैतिक लक्ष्यों का सामना करने के लिए डिजाइन किया गया था जो प्रश्नांकित धर्म या विचारधारा के हृदय के नजदीक होते हैं।

परंतु, छोटे आदिम समुदायों के अतिरिक्त अन्य समाज विषमांगी होते हैं तथा अनेक समाज उन समूहों को समाविष्ट करते हैं जिनक पास उत्पत्ति और परम्परा के कारण मूल्यों के भिन्न आन्तरक होते हैं। इन समाजों में अनेक धर्म हो सकते हैं। या उन धर्मों के अन्दर अपने-अपने देवताओं के साथ अलग-अलग समूह हो सकते हैं। यह विविधता स्वाभाविक है, क्योंकि इन विविध समूहों के पास सामाजिक और सृष्ट्यात्मक क्रम की भिन्न समझ हो सकती है और ये समूह समाज के अन्दर की अपनी उन यथातथ्य स्थितियों पर निर्भर करते हैं जिसमें उनके बीच उस क्षेत्र में रहते हुए भी अन्तर रहता है। यह उस समाज के अन्दर विभिन्न धर्मों के बीच विवाद उत्पन्न कर दे सकता है और पुन: उन आक्रामक आवेशों को क्रियाशील कर दे सकता है जिनके बारे में पूर्व में चर्चा की गयी है। जनजातीय और साम्प्रदायिक-धार्मिक विवाद इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। इस तरह, धार्मिक विकास की प्रक्रिया भी कभी बन्द नहीं होती है। धार्मिक समूहों के विवाद से उत्पन्न होने वाली चुनौती समेत अनेक चुनौतियों के बावजूद प्राय: नये मूल्य या धर्म उत्पन्न होते हैं जो वर्गीय मूल्यों को सर्वआलिंगनकारी धर्म में समाविष्ट करने का प्रयास करते हैं। यह नया धर्म या मूल्य सम्प्रदायवाद का निषेध करता है तथा धर्मों के सर्वार्थवादी पहलुओं को सहारा देता है। चूँकि समाज हमेशा परिवर्तनशील रहता है और समाज से सम्बन्धित चुनौतियों के पास हमेशा अपने कुछ नवीन पहलू होते हैं, इसलिए नये नैतिक आचरण तथा नये मूल्यों के समुच्चय या पुराने मूल्यों के परिष्कृत रूप के साथ समाज सुधारक पैदा होते रहते हैं। केवल सामाजिक विकास के निस्पन्दीय बिन्दुओं पर ही जब नैतिक विषयों पर कुछ महत्त्वपूर्ण नये पर्यवेक्षण की जरूरत होती है, महान पैगम्बर मौलिक किस्म के सर्वार्थवादी

मूल्यों के साथ पैदा होते हैं। वे अनेक दृष्टान्तों में पुराने धार्मिक मूल्यों के भीतर आधार तलाशते हैं क्योंकि आधार पर धर्मों का वही सामाजिक कार्य होता है। लेकिन, इस आधार से वे पुराने मूल्यों का महत्त्वपूर्ण विधि से परिष्कार करते हैं। पैगम्बर जो पिछले धर्मों के खुल्लमखुल्ला अस्वीकार एवं अपने मूल्यों के साथ आगाज करते हैं, वर्तमान नैतिक और धार्मिक अहातों से आगे बढ़ने का प्रयास करने वाले लोगों की अपेक्षा जनसाधारण के प्रतिरोध का ज्यादा सामना करते हैं। लेकिन, अपनी निजी स्थान के विद्यमान धर्म को अस्वीकार करने वाले पैगम्बर भी अतीत के किसी धर्म या एक धर्म जो समकालीन होता है लेकिन भिन्न सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में कहीं फल-फूल रहा होता है, में समर्थन बिन्दु की तलाश करते हैं। इस्लाम एक उदाहरण है जिसमें प्रेरणा यहूदी-इसाई पड़ोस से मिलती है। इसलिए, एक अर्थ में धार्मिक मूल्यों में उन्नति और अभिवृद्धि भी होती है। नये पैगम्बर द्वारा दिये गये मूल्यों के नये समुच्चय में पुराने मूल्यों का सार भाग रह जाता है, यद्यपि निश्चित सम्पार्श्विक मूल्यों को जो पुराने परिवेश के अन्दर विशेष परिस्थितियों में विकसित हुए थे, त्यागना होता है।

इस प्रकार का नैतिक विकास उस ईसाइयत के उदय में अत्यन्त स्पष्ट ढंग से ज्ञेय है जिसकी उत्पत्ति यहूदी परम्परा के अन्तर्गत हुई थी। ईसाइयत में न केवल मूसा के धर्मादेशों में संवृद्धि है बल्कि एक सम्प्रदाय के दैनिक जीवन के विशिष्ट सरोकार से मुक्ति है तथा उच्चतर और अपेक्षाकृत अधिक अमूर्त मूल्यों की एक खोज है। उदाहरणस्वरूप, मूसा संहिता कहती है, 'तुम हत्या नहीं करोगे'; 'तुम जारकर्म नहीं करोगे'; 'तुम चोरी नहीं करोगे'; तुम अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही नहीं दोगे'; 'तुम अपने पड़ोसी के घर का लोभ नहीं करोगे'; 'अपने पड़ोसी की औरत या पड़ोसी के नौकर या उसकी नौकरानी या उसके बैल या गधे या पड़ोसी की किसी चीज का लालच नहीं करेंगे'। साथ ही, एक सुस्पष्ट प्रसंविदा है जिसमें समुदाय के अन्दर वैवाहिक और व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा आर्थिक गतिविधियों से सम्बन्धित एक कानूनी संहिता अंकित है। वे किसी धर्मनिरपेक्ष विधायक के काम की तरह विस्तृत और सांसारिक हैं। इसमें बतलाये गये अनेक अपराधों के समतुल्य सजा के साथ प्रतिकारात्मक न्याय पर जोर है, तथा इसमें क्षति पहुँचाने के लिए जुर्माने की राशि का भी विस्तृत विवरण है।

हम जब ईसा मसीह के उपदेश की एक झलक देखते हैं तो शीघ्र ही वह अन्तर दिखाई देता है। वह कहते हैं :

''तुमने सुना है जैसा कि पुराने समय के लोगों को कहा गया था, 'तुम हत्या नहीं करोगे; और जो कोई भी हत्या करता है, वह दंडादेश के लिए उत्तरदायी है।' लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति जो अपने भाई से रुष्ट है, दंडादेश के लिए जवाबदेह है, जो कोई भी अपने भाई का अपमान करता है, वह परिषद के प्रति जवाबदेह होगा... अतएव यदि तुम वेदी पर अपना उपहार अर्पित कर रहे हो और यह याद करते हो कि तुमको अपने बन्धु से कुछ विरोध है तो तुम अपना उपहार उस वेदी पर छोड़ दो और जाओ, पहले अपने भाई से मेल-मिलाप करो और उसके बाद आओ और अपना उपहार अर्पित करो...''

''तुमने सुना है कि ऐसा कहा गया था, 'तुम जारकर्म नहीं करोगे'। लेकिन, मैं तुमसे कहता हूँ कि वह प्रत्येक व्यक्ति जो कामवासना की नजर से किसी औरत को देखता है तो वह अपने हृदय में उसके साथ जारकर्म कर चुका होता है।''

''तुमने सुना है कि ऐसा कहा गया था, 'प्रतिशोध और प्रतिरोध', लेकिन, मैं तुमसे कहता हूँ, 'उसका प्रतिरोध मत करो जो शैतान है। लेकिन, जब कोई तुम्हारे दायें गाल पर मारता है तो तुम बायाँ गाल भी बढ़ा दो, और यदि कोई तुमसे तुम्हारी कोट माँगता है तो तुम उसे अपने घड़ी भी दे दो...''

''तुमने सुना है कि यह कहा गया था, 'तुम अपने पड़ोसी से प्यार तथा दुश्मन से घृणा करोगे।' लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ, अपने शत्रुओं से प्यार करो और जो तुम्हें आगे बढ़ाते हैं उनके लिए प्रार्थना करो ताकि तुम अपने उस पिता की सन्तान बन सको जो स्वर्ग में हैं; चूँकि उनका सूर्योदय भले और बुरे दोनों के लिए होता है तथा उनकी वर्षा उचित और अनुचित दोनों के लिए होती है।''

और आगे;

''धरती पर अपने लिए धन-सम्पत्ति जमा नहीं करो, क्योंकि उसे कीट-पतंगा और जंग खा जाएँगे तथा चोर सेंध लगाकर चुरा ले जाएँगे। तुम अपने लिए स्वर्ग में धन-सम्पत्ति जमा करो जहाँ न तो कीट-पतंगा न ही जंग उसे खा सकेगी और न ही चोर सेंध लगाकर चुरा ले जाएँगे। चूँकि जहाँ तुम्हारी धन-सम्पत्ति है वहीं तुम्हारा हृदय भी होगा।''

"दो मालिकों की सेवा कोई नहीं कर सकता है; क्योंकि या तो वह एक से नफरत करेगा तथा दूसरे से प्यार करेगा या वह एक का भक्त होगा तथा दूसरे की उपेक्षा करेगा। तुम धन और ईश्वर की सेवा नहीं कर सकते हो।"

हम देख सकते हैं कि शुरू के धर्मादेश एक समुदाय से सम्बन्ध रखने वाले लोगों के जीवन के बगैर यह कहे कि तुम अपने जीवन के सामान्य कामकाज से अलग हो जाओ, जीवन का नियन्त्रण करने का प्रयास करते हैं। उनमें व्यावहारिक कार्यों के नियमन पर जोर है। दूसरी तरफ, ईसा में हमें कल्पना और इरादे की शुद्धता की खोज दिखाई देती है। इस बाद वाली शिक्षा का लाभ स्पष्ट है। मनुष्य में मन की मदद से ही लालसा और हमले के विरुद्ध ज्यादा प्रभावी ढंग से लड़ाई लड़ी जा सकती थी। ईसा का उपदेश लोगों को सांसारिक धन्धे में उनके गहरे उलझाव से निकालने का भी प्रयास करता है। ईसा के इस उपदेश के पीछे रोमन कब्जे में पड़े यहूदियों की यन्त्रणा की तस्वीर रही होगी। उनके पास ऐसी अन्तर्दृष्टि थी कि रोमनों से बदला लेने का आह्वान कर इसका समाधान नहीं ढूँढ़ा जाए बल्कि उस लोकाचार पर ही आक्रमण किया जाए जो विश्व के अन्दर की यन्त्रणा की जड़ में था और विश्व उनसे परिचित था। इस यन्त्रणा की जड़ में वह धन और शक्ति का एक क्रूर अनुसरण देख सकते थे। इसलिए, इस सांसारिक वैभव के विरुद्ध उन्होंने आत्मा के वैभव को निर्धारित करने का प्रयास किया।

चूँकि उत्पादनात्मक प्रविधियों और उनके गिर्द बने सम्बन्धों एवं संस्थाओं में नियमित विकास होता है, इसलिए एक बार स्थापित मूल्यों के गिर्द की साम्यावस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है और प्राय: स्वत्त्वबोधक और आक्रमणशील मूल्य स्वयं पुनर्दावा करने लगते हैं। यह शान्ति या समुदाय के अतिजीवन को खतरे में डाल देता है। जब विभिन्न संस्कृतियों के अधिकांश लोगों के बीच शक्तिशाली अन्त:क्रिया होती है तो ये मूल्य भी उलट जा सकते हैं। मूल्यों के प्रति इस प्रकार की आवर्त्त धमकी ने परम्परागत रूप से नये पैगम्बरों के उद्भव के साथ मूल्यों का पुनरावृत्त नवीनीकरण करने में सहारा दिया, और यह मानवीय संस्कृति की निरन्तरता के लिए एक अनिवार्य गुण है।

सन्दर्भ

1. डसमंड मोरिस, दी ह्यूमन ज़ू, ट्रियाड/पैन्थर बुक्स, 1979।
2. डसमंड मोरिस, दी नेकेड एप, ट्रियाड/मेफ्लवर बुक्स, सन्त अलबंस, 1978 (प्रथम प्रकाशन जोनाथन केप लि. 1967), पृष्ठ 158।
3. कोनराड लॉरेंज, फ्रॉम ऑन एग्रेशन इन सोशियोबायोलॉजी डिबेट, संपा. आर्थर एल. कैपलान, हार्पर एंड रो पब्लिशर्स 1975, पृष्ठ 74।
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ 71-72।
5. सर चार्ल्स शेरिंगटन, मैन ऑन हिज नेचर, पोलिकन 1955, पृष्ठ 294।
6. एक्सपर्ट्स फ्रॉम बायोलॉजी एंड ह्यूमन साइंसेज, 1972 इन सोशियोबायोलॉजी डिबेट, पृष्ठ 101।
7. पूर्वोक्त, पृष्ठ 103।
8. जीन पिएगेट, दी मोरल जजमेंट ऑफ दी चाइल्ड, पेंगुईन, 1983 (इस्टेट बाई जीन पिएगेट 1982), पृष्ठ 188।
9. पूर्वोक्त, पृष्ठ 322।

नये सन्देश का स्थापन

यदि गांधी के पास वर्तमान दुनिया के लिए नैतिक प्रकृति का कोई सन्देश है तो पूर्ववर्ती विवेचना के आलोक में हमें इसकी प्रासंगिकता को अपने समय की विशिष्ट स्थिति में देखना चाहिए। इस विचार को स्पष्ट करने के लिए हम उस सम्बन्ध का संक्षेप में पता लगा सकते हैं जो आरम्भिक ईसाइयत और उसके तात्कालिक सामाजिक और नैतिक परिवेश के बीच कायम था। आनुषंगिक रूप से, आरम्भिक ईसाई विचारों की तरह एक लकीर गांधी के विचारों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अंशत: यह ईसा मसीह और गांधी के दो युगों की स्थितियों के निश्चित सामान्य रूपकों को उनके दो सहस्र वर्षों के अलगाव के बावजूद प्रतिबिम्बित करता है।

ग्रीक-रोमन सभ्यता का विकास रोमन गणराज्य के अन्त के समय हुआ था और इस सभ्यता को सुखवाद की अधिकता से चिह्नित किया गया था। इन्द्रियजन्य उत्तेजना की तलाश में रोमनों ने न केवल अपनी सामान्य भौतिक भूखों को शराब और रंगरेलियों से तृप्त किया, बल्कि क्रूरता के सुविचारित कार्यों का आनन्द उठाया, जिसमें वे बन्दी लोगों को अपने अखाड़े में एक-दूसरे से मौत की लड़ाई लड़वाते थे और वहाँ लोगों की भीड़ खरदिमाग कत्लेआम के रक्तरंजित दृश्यों का आनन्द लेने के लिए जमा होती थी। जूलियस सीजर के समय तक सम्पूर्ण भूमध्यसागरीय विश्व, यूरोप का अधिकांश भाग तथा उत्तरी अफ्रीका और एशिया का एक बड़ा भाग रोमन सैनिकों के समक्ष आत्म-समर्पण कर चुका था। रोमनों ने अपनी विजय से न केवल उपनिवेश खड़ा किया बल्कि पूरी आबादी को ही अपना गुलाम बना लिया, तथा उन्हें रोमन नागरिकों के घरों में काम करने के लिए भेज दिया जहाँ वे अपने स्वामियों की सनक के अधीन थे। विवर्धन का यह स्वच्छन्द धन्धा रोमन चरित्र का हिस्सा बन गया था और अन्तत: यह रोमनों पर ही आ पड़ा। रोमन गणराज्य के अन्दर लोगों में भौतिक अर्जन और सत्ता के लिए मारपीट

शुरू हो गयी। रोम मारपीट का अखाड़ा बन गया। इस तरह, भ्रष्टाचार, छल-कपट और प्रतिद्वन्द्वियों की हत्या रोमन नागरिकों के जीवन के सामान्य विषय हो गये। शीघ्र ही, गुट सम्बन्धी लड़ाइयाँ एक-दूसरे के विरुद्ध रोमन कांसुलों और प्रति-कांसुलों के बारम्बार के युद्धों के रूप में उत्पन्न हो गयीं। अन्तत: इसने रोम की सजीवता का निचोड़ लिया और इसे सीजरवाद की तरफ ले गया। अन्तत: इसने 'बारबेरियन' आक्रमणों के समक्ष दम तोड़ दिया। उपनिवेशों को एक ही उद्देश्य से नियन्त्रण में रखा जाता था कि उनसे रोम को लाभ पहुँचे और वह विलासिताओं का अश्लील आनन्द ले सके। रोमन नागरिक जहाँ भी बसते थे, अपने लिए आवास वगैरह का बजाप्ता निर्माण करवाकर ठाठ-बाट से बसते थे। स्थानीय लोग निर्धन ही बने रहे। उन्हें रोमनों को नियमित नजराना देना पड़ता था तथा रोमनों के अधीन रहना पड़ता था।

यद्यपि पूर्ववर्ती यूनानी सभ्यता गुलामों के साथ व्यवहार करने में कुछ कम क्रूर थी, लेकिन वह भी गुलामी पर ही आधारित थी और मौजमस्ती के सिद्धान्त में विश्वास करती थी। यद्यपि यूनानियों की रुचि अत्यन्त परिष्कृत थी, उन्होंने महान कलाकृतियों की रचना की थी, लेकिन इस परिष्करण का सहारा डकैती और लूटपाट ही थी। आगे चलकर, विजय से ही यूनानी नगरों को धन और गुलामों की आपूर्ति होने लगी। अनेक यूनानी नगर आन्तरिक संघर्ष से विदीर्ण हो गये जिसमें प्राय: वहाँ धनिक तन्त्र और निरंकुश शासन एकान्तरित होता रहता था।

हिंसा के माध्यम से बर्बाद हो जाने के खतरे के अलावा अतिभोग की ऐसी ज्यादतियाँ परितृप्त हो जाने के लिए बाध्य होती हैं, विशेषकर उन संवेदनशील लोगों की रुचि जो इन सबकी व्यर्थता को देखना शुरू कर देते हैं। इसलिए, चौथी सदी ईसा पूर्व से ईसाइयत के आगमन के बाद तक यूनान और रोम में वहाँ के विचारशील लोगों ने विलासिता तथा सभ्यता सम्बन्धी शक्ति की भूख की निन्दा की। मानवद्वेषी डियोजिंस, विषयविरागी जीनो तथा भौतिकवादी एपिक्यूरस सभी अरस्तू और सिकन्दर के लगभग समकालीन थे और सभी ने उक्त सभ्यता के मूल्यों की निन्दा की। सिकन्दर जब एक बार यूनानी सेना की शक्ति को अधिकतम सीमा तक बढ़ाने का प्रयास कर रहा था और स्वयं को देव-सदृश बनाने की इच्छा पाल रहा था, तो उक्त सभी दार्शनिकों ने इस तरह की महत्त्वाकांक्षाओं के मिथ्याभिमान की कलई खोल दी। ये दार्शनिक वस्तुत:

मानवीय इच्छाओं को एक भिन्न तरीके से केवल प्रकृति की माँगों के अनुसार न्यूनतम सीमा तक सीमित करने की वकालत कर रहे थे।

एपिक्यूरस ने कहा था, ''वह व्यक्ति जो प्रकृति का अनुसरण करता है तथा व्यर्थ के विचारों का अनुसरण नहीं करता, हर मामले में स्वतन्त्र होता है।'' चूँकि प्रकृति के लिए जो प्रचुर है, इस सन्दर्भ में प्रत्येक धारण धन-दौलत है लेकिन असीमित इच्छाओं के सन्दर्भ में सबसे बड़ा धन (धन-दौलत नहीं बल्कि गरीबी) है... ''जो व्यक्ति थोड़े से सन्तुष्ट नहीं होता है, उसे कोई भी चीज सन्तुष्ट नहीं कर सकती... आत्म-पर्याप्तता सबसे बड़ी सम्पत्ति होती है...'' ''सुख और समृद्धि की स्थिति का प्रचुरता या धन-दौलत या भव्यता या स्तर या कार्यालय या सत्ता से सम्बन्ध नहीं होता है, बल्कि इसका सम्बन्ध दर्द से मुक्ति, अनुभूतियों में संयतता और मन के रुख से होता है जो प्रकृति द्वारा व्यवस्थित सीमाओं को आरोपित करता है।'' और अन्ततः ''अज्ञात जियो''।

निस्सन्देह, दर्द से मुक्ति का अभिप्राय दर्द की भौतिक अवस्थाओं का अभाव नहीं होता है जो कि नियन्त्रण से बाहर रहता है, बल्कि विलगाव की वह अभिवृत्ति होती है जो मन को इस तरह रखती है कि भौतिक दर्द का मन पर एकाधिकार नहीं हो पाता है। वह इस उपदेश के मुताबिक आचरण करने के लिए कहाँ तक जा सकते थे, इस एपिक्यूरस ने अपनी मृत्युशय्या से इडोमेनियस को लिखे गये निम्नलिखित शब्दों में उद्घाटित किया है : ''अपने जीवन के सचमुच खुशी के इस दिन पर जबकि मैं मरणासन्न हूँ, मैं यह तुम्हें लिख रहा हूँ। मेरे पेट और थैली रोग पूरे जोर से अपना काम कर रहे हैं, ये अपने गम्भीरतम रूप में हैं और मुझे तनिक भी राहत नहीं है : लेकिन इसके मुकाबले तुमसे हुई वार्ता का स्मरण मेरे हृदय में आनन्द भर रहा है...।''

मानवद्वेषी डियोजिंस तो एक कदम और आगे बढ़ गया तथा पूरी तरह एक पशु का जीवन अपना लिया एवं सारे मानवीय साज-सज्जा और सहायता का परित्याग कर दिया। मानवद्वेषी (सिनिक) नाम यूनानी शब्द से कुत्ते के लिए निकाला गया था जिसका जीवन मानवद्वेषी (सिनिक) जी रहे प्रतीत हाते थे। ऐसा उनके अपकर्षकों ने कहा था। फिर भी, इस दार्शनिक ने महान यूनानी योद्धा सिकन्दर पर सौम्य नैतिक विजय को रेखांकित किया। ऐसा कहा जाता है कि सिकन्दर जब अपने विजय अभियान पर था तो सुना कि डियोजिंस

यहीं पर कहीं नजदीक में है तो वह उससे मिलने गया। उसने देखा कि वह दार्शनिक जमीन पर नंग-धड़ंग लेटा है। सिकन्दर उसके समीप खड़ा हुआ तथा उसे प्रभावित करने के लिए अपना परिचय दिया और पूछा कि क्या वह दार्शनिक की किसी प्रकार की मदद कर सकता है। सिकन्दर खड़ा था और इससे दार्शनिक पर जो सूर्य की रोशनी पड़ रही थी, वह बाधित हो गयी थी। इसलिए, दार्शनक ने बिल्कुल उदासीन भाव में सिकन्दर से केवल यही कहा, ''बगल हो जाओ, धूप आने दो''। दार्शनिक से हुई उस भेंट ने सिकन्दर को इतना बेचैन कर दिया कि प्लूटार्च के अनुसार, अपनी वापसी पर उसने जोर से चिल्लाकर कहा कि यदि वह सिकन्दर नहीं होता तो डियोजिंस बनना पसन्द करता।

डियोजिंस को 'कस्मोपोलिटन' भी कहा जाता है, अर्थात विश्व का एक नागरिक। डियोजिंस ने स्वयं को विश्व का एक नागरिक कहकर यूनानियों में अपनी यूनानी सभ्यता और अपने नगर की नागरिकता पर जो गौरवबोध था, उसकी हवा निकाल दी। इसने सभ्य और असभ्य के बीच की उस दीवार को नष्ट कर देने का प्रयास किया जिसे यूनानी अपने और अन्य लोगों के बीच खड़ी कर देते थे।

शारीरिक सुख और सांसारिक स्वामित्व के प्रति विषयविरागियों का भी यही रुख था। उन्होंने समानता और मानवीय भाईचारे पर जोर दिया तथा और आत्मा के दुर्ग के भीतर वापस लौट आये। विषयविरागी एपिक्टेट्स का जन्म 60 ईस्वी के आस-पास हुआ था। उसने उन सभी वस्तुओं का त्याग कर देने का उपदेश दिया जिनके लिए किसी व्यक्ति को अपने से बाहर की चीजों पर निर्भर रहना पड़ता था। भौतिक स्वामित्व, प्रशंसा, बदनामी और सम्मान, ये सभी चीजें मनुष्य की अपनी निजी शक्ति के बाहर होती हैं। इसलिए, इनकी खोज और तलाश से अशान्ति आ गयी। इस तरह, आत्मनिर्भर जीवन ही केवल सुखी जीवन हो सकता था। इसी तरह के विचार का दबाव रोमन सम्राट मारकस ऑरेलियस (120-180 ई.) के मन पर भी पड़ा। वह विषयविरागी परम्परा से गहरे प्रभावित था। उसने विषयविरागवाद को एक दार्शनिक रूप प्रदान किया। उसने लिखा :

''मानवीय जीवन के बारे में समय एक बिन्दु है और धन-दौलत प्रवाह में है तथा ज्ञान नीरस, सारे शरीर की संरचना सड़न का विषय, आत्मा एक भँवर,

भाग्य शकुन विचारने वाला नहीं और प्रसिद्धि निर्णयरहित चीज है। और इन सबको एक शब्द में कहें तो शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु एक धारा है तथा आत्मा से सम्बन्धित वस्तु एक स्वप्न और वाष्प है तथा जीवन एक संग्राम और परदेशी का पड़ाव है तथा प्रसिद्धि के बाद विस्मरण है। तब वह क्या है जो मनुष्य को संचालित करने में सक्षम है? वह चीज है, केवल दर्शनशास्त्र। लेकिन, इसमें तीन चीजें शामिल रहती हैं– पहली चीज यह कि हिंसा और नुकसान से मुक्त मनुष्य के भीतर सुख और दु:ख से श्रेयस्कर अधिमानव को सुरक्षित रखना... तथा इसके अलावा दूसरी चीज यह कि वह सब जो घटित होता है तथा जो आबंटित होता है, उसे उस तरह से स्वीकार करना, जैसे यह जहाँ हो वहीं से आ रहा प्रतीत हो : जहाँ से वह खुद आया था और अन्तत: तीसरी चीज यह कि प्रसन्न चित्त से उस रूप में मौत की प्रतीक्षा करना मानो वह कुछ नहीं, केवल उन तत्त्वों का विघटन है जिनसे प्रत्येक सजीव प्राणी की रचना होती है...।''

उस तरह के विचार हाशिये पर नहीं थे, बल्कि चारों तरफ फैले हुए थे। यह इस तथ्य से जाहिर होता है कि ये विचार सम्राटों के पवित्र स्थान पर भी आक्रमण कर सकते थे। रोम के सम्राटों तथा नागरिकों को जो अनुभूति हो रही थी, उसकी अनुभूति काफी तीक्ष्ण रूप में साम्राज्य के गुलामों और अधीनस्थ लोगों को होनी चाहिए थी। उनके लिए सांसारिक तड़क-भड़क केवल बेकार ही नहीं थी, बल्कि अभिशाप भी थी जिसने उनके जीवन को चित्तीग्रस्त कर दिया था। यह थोड़ा आश्चर्य का विषय है कि ईसा उस जुडेय (यहूदी) से सम्बन्धित थे जो तब एक रोम प्रदेश था। वह जो यूनान और रोम के दार्शनिकों के लिए आदर्शवादी उपदेश बन गया था, ईसा के उपदेशों में नये विश्वास की शक्तिशाली लहर का रूप ग्रहण कर लिया जिसने अन्ततोगत्वा खुद रोमनों का ही धर्मान्तरण करा दिया। इसकी शुरुआत साम्राज्य के अभागे लोगों से हुई थी। लोगों का जब दैहिक जीवन में कोई आदर्श वास करता दिखाई देता है, तो वे सबसे ज्यादा प्रेरित होते हैं क्योंकि उनसे मूर्त सिद्धान्त और तर्क का क्षेत्र काफी दूर रहता है। इसलिए, दार्शनिक विद्यालयों के चारों तरफ छोटे-छोटे सम्प्रदाय और मंडली अकेले पैदा हो सकते हैं, जैसा कि यूनानी-रोमन जगत में पैदा हुए थे। लेकिन, ईसा ने अपने शब्दों को एक सत्ता दी जो प्रत्यक्ष थी तथा एक अन्तर्निहित नियम-पालन की रचना की जो एक बाध्यकारी पितृछवि का व्यक्ति ही रच सकता है।

सामान्य लोगों के पक्ष में अपील करने हेतु सांसारिक वस्तुओं के अनुसरण की बाबत जो निराशावाद था जिसकी आवाज दार्शनिकगण उठाते आ रहे थे, उसे एक ऐसे व्यक्ति की प्रेरक वाणी की जरूरत पड़ी जो स्वयं को भगवान का दूत मानता था तथा जिसमें जनसाधारण से यह बात मनवा लेने की काबिलियत थी कि उसने जो कुछ कहा वह सचमुच भगवान की वाणी थी। ईसा ने अपने विचारों को दुनिया की आसन्न समाप्ति के परिप्रेक्ष्य में रखा था। जब कोई व्यक्ति मौत के आमने-सामने हो तो जीवन के अनेक सरोकार और आकांक्षाएँ व्यक्ति के आत्मतुष्ट होने और यह अनुभव करने कि जीवन का खेल असमाप्य ढंग से चलते रहना चाहिए, की स्थिति में विरले कोई स्पष्टता धारण कर पाते हैं। गरीबों और गुलामों के लिए उद्धार की किसी आशा के बगैर दु:खभोग, दुनिया की आसन्न समाप्ति के आसार सम्भाव्य भी दिखाई दिये होते क्योंकि उनके लिए जीवन के बोझ से उबरने की वही केवल आशा थी। यही अनुभूति थी जिसने जुडेय के निर्धन-निरक्षर लोगों को ईसा के करीब ले गयी। यह सामान्य अनुभव है कि लोग जब जीवन का शासन भौतिक मनोभावों को दे देते हैं तो धर्म और परंपरा से प्राप्त नियमों को हवा में फेंक दिया जाता है। धनी लोग उत्तेजना की फसल काटते हैं। हालाँकि, यह फसल टिकाऊ नहीं होती है। लेकिन, ये गरीब लोग ही होते हैं जो इस बोझ को बर्दाश्त करते हैं। यह थोड़ा आश्चर्य का विषय है कि गरीबों के हृदय में नैतिक मूल्यों एवं धर्म का वास हो जाता है।

ईसाइयत ने न केवल गरीबों को इस आशा के साथ सान्त्वना दी कि 'गरीब इस धरती को उत्तराधिकार में प्राप्त करेंगे', बल्कि गरीबों का शोषण करने के लिए धनी लोगों की भर्त्सना भी की। आरम्भिक ईसाई उपदेशक जेम्स के पत्र की निम्नलिखित पंक्तियाँ धनी लोगों के बारे में साम्यवादी अभिशाप की तरह ध्वनित होती हैं : ''आप धनी लोग अब आएँ और अपनी होने वाली दुर्गतियों के लिए रोएँ और चिल्लाएँ। आपके धन सड़ गये हैं तथा आपके वस्त्रों को कीड़े खा चुके हैं। आपके सोने और चाँदी में जंग लग चुके हैं, उनका जंग खाना आपके विरुद्ध साक्ष्य होगा तथा आग की तरह आपके मांस को खा जाएगा। आप लोगों ने अन्तिम दिनों के लिए दु:ख जमा किया है। उन मजदूरों की मजदूरी को देखिए जिन्होंने आपके खेतों में कटनी की, आप लागों ने छल से उसे फिर वापस ले लिया, चिल्लाएँ और मजदूरों की चिल्लाहट दूतराज के कानों तक पहुँच गयी है...।''

इस प्रकार, ईसाइयत न केवल एक नया धर्म था, बल्कि यह एक चैनल भी बन गया जिसके माध्यम से अनेक धर्मों और दर्शनशास्त्रीय बुद्धिमत्ता द्वारा व्यादेशित प्राचीन धार्मिकताएँ जो रोमन साम्राज्य के अन्दर अलग छूट पा चुकी थीं, फिर से जी उठीं। हम पूर्व में इस चीज का उल्लेख कर चुके हैं कि अपने बड़े पहलू में ईसाइयत ने यहूदी धर्मादेशों का अनुसरण किया, लेकिन इन धर्मादेशों को नये दार्शनिक विचारों तथा रोमन साम्राज्य के अधीनस्थ लोगों में व्याप्त निराशावाद एवं त्यागपत्र के स्वरूप का समंजन करने के लिए बारीक तरीकों में रूपान्तरित भी कर दिया गया। लेकिन, आरम्भिक ईसाइयत में जो सबसे व्यापक संकेत है वह उस त्याग के बारे में है। नये धर्म की इस प्रवृत्ति को न केवल रोमनों के सांसारिक आसक्तियों से विकृत लगाव के प्रतिकारक के रूप में उत्पन्न किया गया, बल्कि इस कारण से भी उत्पन्न किया गया कि यह अधिकांश नैतिक दर्शनशास्त्रों का पहले ही आवर्ती विषय बन चुकी थी। जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया है कि वह सभी नैतिक संहिताओं का एक शाश्वत पहलू है क्योंकि धर्म के प्रारम्भिक लक्ष्यों में से एक लक्ष्य औपचारिक रूप से उन मानवीय अभियानों पर रोक लगाना भी रहा है जो सामाजिक संस्कृति को ध्वस्त करने वाले होते हैं। त्याग का यह आह्वान, निस्सन्देह, उन लोगों की समस्याओं के विशिष्ट रूप और भाषा में होता है जिन्हें यह सम्बोधित होता है। रोमन साम्राज्य के विस्तृत क्षितिज के अनुरूप नये धर्म ने यहूदियों और सदृश गैर-यहूदियों के लिए अपने द्वार खोल दिये, जबकि बाइबिल के पूर्व विधान ने यहूदियों से विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के रूप में व्यवहार किया।

ईसाइयत की पृष्ठभूमि की इस संक्षिप्त समीक्षा के बाद हम गांधी और उनके काल की तरफ लौटते हैं। गांधी का सन्देश ब्रिटिश शासन के अधीन प्राचीन सभ्यता के एक मूल निवासी के तौर पर तथा आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की प्रकृति के मद्देनजर उनकी अपनी स्थिति के प्रसंग में स्थापित किया जाना है। 19वीं सदी के अन्त तक ब्रिटेन उक्त आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के प्रामाणिक धारक के रूप में प्रकट हो चुका था।

पश्चिमी सभ्यता 17वीं सदी से धीरे-धीरे विकसित हुई थी। इस सभ्यता का यूनानी-रोमन दुनिया से बहुत कुछ मिलता-जुलता कार्य था। जल-डकैती, लूटपाट तथा विदेशी भूमि का जबरन कब्जा-दखल जिस तरह से यूनानी-

रोमन दुनिया में प्रचलित था, उसी तरह से यह व्यापक पैमाने पर पश्चिम की सभ्यता का आधार बन चुका था। 17वीं सदी से यूरोप को विज्ञान और तकनीक में अप्रत्याशित विकास दिखाई देने लगा। लेकिन, उसी काल में इसने दास व्यापार तथा संयुक्त राज्य, वेस्टइंडीज इत्यादि में दासता आधारित कपास और गन्ना की खेती जो यूरोपीय उद्योग और व्यापार के लिए कपास, चीनी और शराब की आपूर्ति करते थे, का भारी विकास भी देखा। विकास के इस दबाव में ईसाइयत जैसी कोई चीज नहीं थी। यह विकास हिंसक, लालची, विश्वासघाती और पथभ्रष्ट था। यद्यपि 19वीं सदी के साठ के दशक औपचारिक तौर पर संयुक्त राष्ट्र में गुलामी का अन्त हो गया। लेकिन, दूसरे मानव प्राणियों को अधीन में करने तथा उनका शोषण करने का पश्चिमी दुनिया का यह अभियान समाप्त नहीं हुआ। तकनीक अपने आरम्भ से ही पश्चिमी सभ्यता को ताज पहनाने वाला गौरव बन गयी थी। औपनिवेशिक जनता तथा स्थानीय कामगार वर्ग की कीमत पर इस तकनीक का इस्तेमाल लाभ चाहने वाले व्यावसायिक वर्ग की शक्ति बढ़ाने के लिए किया गया।

तकनीक एक अजीब मानवीय आविष्कार है। इसके बिना वह प्राणी जो घूमने-फिरने में सुस्त, कोमल और विकास करने में अत्यंत धीमा होता है, प्राणी जगत में चलने वाले हिंस्र संघर्ष में जिन्दा नहीं बच सकता था। लेकिन, तकनीक केवल वह शाखा थी जिसका विकास इच्छा से किया जा सकता था। मनुष्य ने आंगिक अनुपातों का ख्याल किये बिना इसका विकास किया। सबसे बुरा यह हुआ कि मनुष्य ने इसका विकास उन तरीकों से किया जिन्होंने मनुष्य को जीने के लिए ज्यादा जगह मुहैया करने के बदले उसे सख्ती से सीमित कर दिया। यह मनुष्य के विरुद्ध मनुष्य की लड़ाई में मनुष्य का सबसे घातक हथियार बन गया। यद्यपि हम युद्ध की तकनीकों पर इसके भयानक प्रभाव को छोड़ भी दें तो तकनीकी क्रान्तियों ने जो दिशा पकड़ ली है, वह सामंजस्यपूर्ण मानव-प्रकृति सम्बन्ध को तहस-नहस कर मनुष्य के निरन्तरित जीवन को खतरे में डाल रही है।

तकनीक का यह अतिपोषण 17वीं सदी से यूरोप में उस समय शुरू हुआ जब वाणिज्य और भौतिक सफलता पश्चिमी सभ्यता के मूल विचान बन गये थे। ईसाइयत के अन्दर के सुधार आन्दोलन ने घटनाओं की एक विचित्र-विशिष्ट बनावट से मनुष्यों की अर्जनशील आकांक्षाओं को एक दैवी अनुमति

भी प्रदान की। प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय के सदस्यों के अनुसार इस दुनिया में सामान्यजन को बिना आशा के छोड़ दिया गया था। हालाँकि, उनके लिए कुछ लोगों को अभी भी ईश्वरीय कृपा से मुक्ति की आशा थी। और ईश्वरीय कृपा का संकेत एक व्यक्ति ने इस दुनिया में जो भौतिक सफलता हासिल की थी, केवल उसी में दिख सकता था। मनुष्य को मितव्ययिता और सादगी के साथ पवित्र धन्धे के रूप में वाणिज्य का अनुसरण करना पड़ता था। उसकी सफलता उसे यह बतलाती थी कि यह सर्वशक्तिमान का यहूदी हो गया है। इस तरह, यूरोपीय व्यावसायिक वर्गों को दुनिया का स्वामी बनाने हेतु लोभ और ईश्वर एक साथ हो गये।

सम्पाती रूप से गैलिलियो और न्यूटन के बाद विज्ञान उनके नियन्त्रित अवलोकन पर जोर के साथ 17वीं सदी से बहुत लम्बा डग भी भरते आ रहा था। व्यापारिक वर्ग विज्ञान की प्रत्येक नयी खोज को जब्त कर लेने में तेज था। वह इसका इस्तेमाल सहायक के रूप में तकनीकी नवीनताओं के लिए करता था। बहुत से वैज्ञानिक ज्ञान का कोई इस्तेमाल नहीं हुआ था। व्यापारिक वर्ग ने तुरन्त उनका उद्योग और वाणिज्य के काम में इस्तेमाल किया। चुम्बकत्व, मुद्रण तकनीक और बारूद के पश्चिम में इस्तेमाल होने से पहले ही चीनी सदियों को इनकी जानकारी थी : 62 ई. में हीरो द्वारा आविष्कृत एलिपाईल नाम से जाना जाने वाला खिलौना वाष्पचालित इंजन सिकन्दरियाइयों को मालूम था; पनचक्की, स्क्रू-प्रेस और गियर संचरण की जानकारी ई. पू. तीसरी सदी के पहले प्राचीन यूनानियों को थी; 7वीं सदी में पवनचक्की की जानकारी पारसियों को हो गई; लेकिन यूरोप में इन सब चीजों की जानकारी सोलहवीं सदी से होने लगी जब व्यापार यूरोपीय समाज की मुख्य स्फूर्त शक्ति बन गया। यूरोप ने इन आविष्कारों का इस्तेमाल समुद्री व्यापार, स्वार्थचालित युद्ध और व्यापार के लिए किया क्योंकि इनसे चुम्बकीय दिक्सूचक, आग्नेयास्त्रों और विशाल उत्पादन वाले कल-कारखानों को विकसित किया गया। प्राचीन सभ्यताओं ने इन अनुसन्धानों का अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक छोटे पैमाने पर इस्तेमाल किया, अथवा अनेक अनुसन्धानों को महज कुतूहलों और खिलौनों के रूप में लिया। यह ज्ञान का अभाव जितना नहीं था, उतना अभिप्रेरण का अभाव था जिसने आविष्कारों और इनके व्यापार को सीमित करके रखा। विद्युतीय घटना की भी जानकारी ईसाई युग से पहले

यूनानियों को थी। रोमनों को यह जानकारी पहली सदी में ही हो गयी थी। लेकिन, यह व्यावसायिक-तकनीकी लोकाचार था जिसके चलते गेल्वानी, वोल्टाज, और फैराडे के बाद विद्युत का उपयोग अनेक तकनीकी उद्देश्यों को पूरा करने के लिए बड़े पैमाने पर उपकरण के रूप में होने लगा।

परन्तु, व्यावसायिक सफलता की नींव उपनिवेश के अन्दर के लोगों और नये विकासशील कल-कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के शोषण पर टिकी थी। सफलता के शिकारी यूरोपियनों की लूटमार और उनके द्वारा सोने और चाँदी के लिए अमेरिका के इंकास, अज्टेक्स और मायाओं का विध्वंस करने और अमेरिकी भारतीयों की उपजाऊभूमि पर जबरन कब्जा करने की कहानी तो एक सामान्य ज्ञान है। इसी तरह, गुलामों और बहुमूल्य धातुओं के लिए अफ्रीका के अश्वेत लोगों की जमीन पर श्वेत लोगों का हमला तथा अन्ततः उस समृद्ध विशाल महादेश पर श्वेत लोगों के कब्जे की कहानी भी सर्वविदित है। एशिया का उनका धीमा भेदन तथा कपट और विध्वंस की प्रक्रिया के जरिये इस पर अन्तिम कब्जा या यूरोपीय वाणिज्य की इसकी अधीनता का भी वर्णन करना जरूरी नहीं है, ये सबको मालूम है। निस्सन्देह, ये सभी यूरोपीय सम्पत्ति के स्रोत थे। लेकिन, जिस चीज की जानकारी कम है, वह है यूरोप के अपने स्वतन्त्र शिल्पकारों का कारखानाकर्मियों के रूप में जबरन रूपान्तरण तथा लाभ के लिए उन्हें निचोड़ लेने के ख्याल से नयी उत्पादनात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत उनके अधीनीकरण की कहानी। यह एक सामान्य सोच थी कि कारखाना प्रणाली ने पूर्ववर्ती सामन्ती काल के कमर-तोड़ कार्य से कामगारों के उद्धार की प्रक्रिया शुरू कर दी है। इस सोच के विपरीत, इस प्रणाली ने कामगारों को ऐसे जीवन में पदावनत कर दिया जहाँ इस तरह के काम पर उन्हें कई घंटों तक लगातार कठिन मेहनत करनी पड़ती थी जिसमें न तो उनकी पहल, न ही उनकी कल्पना की जरूरत थी। कामगारों को मशीन के दूसरे निर्जीव भागों की तरह उत्पादन प्रक्रिया में केवल फिट कर दिया गया।

सूती वस्त्र उद्योग इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति का अग्रदूत था। इस उद्योग का आरम्भिक विकास बहुत प्रखर ढंग से उत्पादों और उत्पादकों, दोनों के लिए नयी प्रणाली का दर्दनाक परिणाम भी दिखाता है।

दूसरे उद्योगों की तरह, वस्त्र उद्योग में भी नवीनता की प्रेरणा 18वीं सदी

के दौरान विश्वव्यापी व्यापार द्वारा पैदा की गयी वस्त्रों की बढ़ रही माँग के द्वारा उत्पन्न की गयी। पूर्व में वस्त्र उद्योग तब के प्रचलित पद 'पुटिंग आउट सिस्टम' पर आधारित था। इस प्रणाली के अन्तर्गत व्यापारी-पूँजीपति उन फार्म मजदूरों को कच्चा माल निकालकर देते थे– जिनके परिवारों में औरतें और बच्चे हमेशा ही काम करते थे – और जिन्हें खुदरा दर पर मजदूरी दी जाती थी। कताई और बुनाई के काम को पहले ही परिवारों में विशेषीकृत किया जा चुका था। 1773 ई. में जॉन काय की उड़न तरी के साथ बुनाई में पहला आविष्कार हुआ जिसने यान्त्रिक उपकरण का बुनाई करने वाली तरी को अधिक तेजी से फेंकने में इस्तेमाल किया। लेकिन, बुनाई में तेजी आने के साथ चार-एक के कताई करने वाले और बुनकर का आरम्भिक अनुपात गड़बड़ा गया और कताई को बुनाई की गति के बराबर होना पड़ा। इसलिए, 1766-69 ई. में हारग्रिव्स का कताई करने वाला जेनी विकसित हुआ। इसके बाद 1769 ई. में आर्चराईट ने पवनचक्की का विकास किया जिसने पनशक्ति का इस्तेमाल सुन्दर ऐंठनयुक्त सूत के उत्पादन के लिए किया। लेकिन, सूत का उत्पादन जैसे ही तेज गति से बढ़ने लगा, कपास की आपूर्ति लड़खड़ाने लगी, क्योंकि कपास से बीज निकालने का काम अब भी जटिल था और हाथ से ही होता था। 1793 ई. में कपास ओटनी का विकास हुआ। इसने कपास से बीज निकालने की गति को तिगुना कर दिया। अन्ततोगत्वा सबसे निर्णायक परिवर्तन हुआ अर्थात स्वयं काम का नया संगठन। 18वीं सदी के अन्त के समय परिवर्तनशील तकनीक के साथ-साथ – कारखाना प्रणाली लागू हुई जिसने रूई ओटने वालों, बुनकरों और कताई करने वालों को एक छत के नीचे ला दिया और उन पर दबाव बनाया कि वे मशीन के अनुशासन के तहत काम करें। पनशक्ति और बाद में वाष्पशक्ति का इस्तेमाल नयी वस्त्र मशीनों को चलाने के लिए किया गया। कामगारों को इन मशीनों की लय के अनुसार अपने को समंजित करना पड़ा। साथ ही, अनेक कार्यों को खंडों में विभाजित कर दिया गया। कामगारों पर दबाव बनाया गया कि छोटी यान्त्रिक गति पर वे विशेषज्ञता हासिल करें। इसके साथ ही अपने श्रम से श्रमिकों का अलगाव शुरू हो गया।

औद्योगीकरण के आरम्भिक काल में मशीनों के उत्पाद काफी घटिया किस्म के थे और मजदूरों की हालत काफी खराब हो गयी थी। कपड़ा उद्योग

जिन क्षेत्रों में स्थापित किये गये थे, वहाँ काफी संख्या में शिल्पकार अपना काम खो दिये थे। वे जिन्होंने अपना काम नहीं छोड़ा था, कामगारों के बीच बढ़ रही प्रतिस्पर्द्धा के साथ निर्धन बन गये थे। मजदूरों की बिगड़ती दशा और उत्पादों की घटिया गुणवत्ता–इन जुड़वा बुराइयों के विरुद्ध 1811 ई. में मजदूरों का क्रोध ल्यूडाइट विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ। उपद्रवियों का मुख्य निशाना था, फ़ीता और जुर्राब बुनने की मशीन : जुर्राब की गुणवत्ता खासकर काफी घटिया थी। यह उपद्रव यार्कशायर, लंकाशायर, डर्बीशायर और लिसेस्टरशायर तक फैल गया। इन उपद्रवियों को जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त था, और आरम्भ में इन्होंने अपने क्रोध को अमानवीय बनाने वाली मशीनों के विरुद्ध तक ही सीमित रखा। लेकिन, जैसे ही राज्य ने उनमें से कुछेक को गोली मारी, वे हिंसक हो गये। उनका अत्यधिक दमन हुआ क्योंकि ग्लोरियस रिवोल्यूशन के बाद इंग्लैंड की सरकार पर इंग्लैंड के यहूदी और सौदागरों का प्रभाव था। 1813 ई. में यार्क के जन विचारण में काफी संख्या में ल्यूडिटों को देशनिकाला दिया गया। हालाँकि इस कारखाना प्रणाली के विरुद्ध गुस्सा इतना तेज था कि 1816 ई. में पुन: वह आन्दोलन भड़क उठा। लेकिन दूसरी बार भी इसे बर्बर तरीके से दबा दिया गया। ऐसा तभी संभव हुआ जब कामगार औपनिवेशिक लूट का हिस्सा हथियाने लगे और इससे उनका जीवन-स्तर सुधरने लगा। कामगारों का ऐसा चरित्र हो जाने के बाद कारखाना प्रणाली का प्रतिरोध समाप्त हो गया। लेकिन, उपनिवेशों से लूटी गयी इस माल से भी प्रणाली के अन्दर की स्वाभाविक असमानताओं में कुछ का निराकरण नहीं हो सका।

अधिसंख्य कामगारों को यहाँ तक कि बच्चों और औरतों को भी 20वीं सदी की प्रथम चौथाई तक अत्यन्त अस्वास्थ्यकर हालत में घंटों काम करना पड़ता था। गरीबों के लिए आवास की स्थिति पूरी तरह अमानवीय थी। मध्य 19वीं सदी की स्थिति के वर्णन के अनुसार, '1830 ई. में पेरिस पहुँचने वाले कुछ नये आगन्तुकों ने स्वयं को उन यात्री भवनों में रहते हुए देखा कि छह बिछावनों पर बारह लोग पड़े हैं, जबकि 1840 ई. में मैनचेस्टर में सात हजार से अधिक लोगों का काम मात्र 33 शौचालयों से चलता था अर्थात 215 औरत, मर्द और बच्चों पर एक शौचालय था। यद्यपि इन दृष्टान्तों में प्रतिवेदित जनाधिक्य अपवाद रूप में भयावह लग सकता है, लेकिन इस तरह की स्थिति

किसी तरह असामान्य नहीं थी। जाँचकर्ता 19वीं सदी के मध्य के वर्षों में वस्तुतः सभी बड़े पश्चिमी नगरों के बारे में ऐसे ही दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं।'[1]

इस तरह की स्थितियाँ 20वीं के आरम्भिक वर्षों तक अधिकांश औद्योगिक नगरों में कुछ कमी के साथ जारी रहीं। ऐसी स्थितियाँ यू.एस.ए. की यहूदी बस्तियों एवं तीसरी दुनिया के अधिकांश नगरों में गरीबों के आवासीय क्षेत्रों में अभी भी बनी हुई हैं। धूप और हवा का अभाव, अत्यधिक भीड़, नशे में झगड़ा और अपराध ऐसे सभी क्षेत्रों के लिए सामान्य चीज हैं। लेकिन, इस नये औद्योगिक समाज का सबसे खराब स्वरूप सामान्य समय में सूक्ष्म व्यक्तियों की एक छोटी प्रतिशतता के बीच व्याप्त स्थायी बेरोजगारी थी। नियमित अन्तराल पर सभी तरह के कार्यों का अभाव तथा मन्दी का मियादी संकट था। व्यावसायिक वर्गों द्वारा खोजे गये इस दशा का सरल निराकरण था, बढ़ते आरोह में उत्पादन और उपभोग को विस्तार देना। यह औद्योगिक मशीन को गतिशील बनाये रख सकता था। लेकिन, वर्द्धनशील उत्पादन को विशाल बाजार की जरूरत थी जो तभी सम्भव था जब एक औद्योगिक राष्ट्र दूसरे औद्योगिक राष्ट्रों या गैर-औद्योगिक राष्ट्रों में अपने उत्पादों का ढेर लगा दे। इससे अक्सर विवाद और युद्ध हुआ। लेकिन, व्यावसायिक वर्गों के लिए यह युद्ध अभिशाप के बदले वरदान साबित हुआ, क्योंकि शस्त्रीकरण ने युद्ध उद्योगों में उत्पादन और युद्ध से सम्बन्धित आर्थिक गतिविधियों के अनन्त मार्ग खोल दिये। इस तरह, इससे दो उद्देश्यों की पूर्ति हुई। इसने एक विशाल बाजार खड़ा किया तथा एक राष्ट्र को भौतिक शक्ति प्रदान की ताकि वह अनिच्छुक और कमजोर राष्ट्रों पर अपनी वाणिज्यवस्तु लाद सके। इस प्रकार, आवर्ती और भयानक युद्ध इस सभ्यता का एक दूसरा संगत बन गया।

हालाँकि, यह निराकरण व्यापक उपभोग और उत्पादन के जरिये एक अत्यधिक मौलिक प्रकृति के अजेय अवरोध के विरुद्ध प्रकट हुआ। आगे चलकर, व्यापक उत्पादन का प्रक्षेपण प्राकृतिक संसाधनों के खत्म होने की सम्भावनाओं विशेषकर उन जीवाश्मी ईंधनों के विरुद्ध उन्होंने औद्योगिक अर्थव्यवस्था की रीढ़ का निर्माण किया था, प्रकट हुआ। यद्यपि यह अहसास धीरे-धीरे केवल अब हो रहा है, विचारवान व्यक्ति ने इस संकट का अहसास शुरू में ही कर लिया था। संरक्षण का सामान्य नियम उसे यह चेतावनी दे रहा था कि कच्चे माल और ईंधनों की सीमित मात्रा से असीमित वस्तुओं का

उत्पादन नहीं किया जा सकता। लेकिन, संग्रहवृत्ति का जोश पूरा फैला हुआ था जिस पर कोई बाहरी रोक या सीमा नहीं थी। यह अपने नियमित अभियान से सारी धरती को पूरी तरह जला देने तथा खुद मानव प्रजाति को नष्ट कर देने के लिए तैयार था। केवल अन्तःप्रेरणा ही इस प्रेत को गिरफ्तार कर सकता था। लेकिन, यह अन्तःप्रेरणा कहाँ से जागृत हो सकती थी? आधुनिक मनुष्य स्वयं को बाह्य रूप से संगणनीय वस्तुओं के द्वारा नियम निर्धारित करने का अभ्यस्त बना चुका था। इस नियम ने केवल एक ही दिशा में संकेत दिया तथा अर्जन की राह में वापसी या विराम को असम्भव बना दिया। इस प्रवाह को रोकने की सुदृढ़ प्रेरणा या प्रोत्साहन केवल एक नया विश्वास ही दे सकता था।

सन्दर्भ

1. जानेट रोबक, दी शेपिंग ऑफ अर्बन सोसायटी : ए हिस्टरी ऑफ सिटी फॉर्म्स एंड फंक्शन्स, चार्ल्स स्क्राइबनर्स एंड संस, न्यूयॉर्क 1974, पृष्ठ-145।

एक आयामीय पुरुष

गांधी जब अध्ययन करने लन्दन पहुँचे, तो 1888-91 ई. की अपनी उस अवधि के दौरान एक अतिसंवेदनशील युवक के रूप में वहाँ रहते और रोमन्थन करते हुए उन्होंने विपुल सम्पदा के बीच गरीबी, संकुलन और बेरोजगारी की एक ऐसी दुनिया देखी जिस पर युद्ध का खतरा मँडरा रहा था। इसे वह आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का हमराही मानते थे। पश्चिमी सभ्यता की इस तस्वीर का उनके संवेदनशील मन पर एक स्थायी प्रभाव पड़ा। उनके पास, आगे चलकर, जैसे-जैसे अत्यधिक सूचनाएँ आने लगीं, यह तस्वीर उसी तरह से और प्रबलित होती गयी। इस तरह, गांधी धीरे-धीरे अपने व्यक्तिगत जीवन से साधुता की ओर अग्रसर होने लगे।

लेकिन, गांधी की प्रतिक्रिया इन सभी स्थितियों के प्रति अपने समकालीनों से मौलिक रूप से भिन्न थी। उन समकालीनों में भारतीय और यूरोपीय, दोनों शामिल थे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम और बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में यूरोप भारी समस्याओं से घिरा हुआ था। वहाँ एक सशक्त समाजवादी आन्दोलन शुरू हो चुका था। महादेशीय यूरोप में मार्क्सवाद आरोहण पर था। स्वयं ब्रिटेन में एक शक्तिशाली मजदूर संघ का आन्दोलन शुरू हो गया था। ये सभी आन्दोलन राजनीतिक और आर्थिक सुधारों के माध्यम से इन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ रहे थे। उन दिनों यूरोप गये भारत के अधिकांश युवक यूरोप और उपनिवेशों की समस्याओं का समाधान इन प्रचलित विचारधाराओं में से किसी एक या दूसरी विचारधारा में ही तलाशते थे। लेकिन, गांधी का जब उक्त सभ्यता से सामना हुआ तो इससे एक अनोखी प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। वह इन समस्याओं के नैतिक समाधान की खोज में पड़ गये। वह पूरी तरह एक एक आयामीय व्यक्ति थे जिनके लिए सभी समस्याएँ केवल नैतिक समाधान को स्वीकार करते हुए - अन्ततः एक नैतिक समस्या में परिवर्तनीय थीं। वह जिन जटिलताओं में स्वयं को देख रहे थे, उससे उबरने के लिए

मार्क्स या मिल की तरफ नहीं गये, बल्कि ईसाइयत की तरफ मुड़ गये। ईसाइयों से उनका सम्पर्क था। इस सम्पर्क ने उन्हें उनके उस निजी धार्मिक संस्कार में निमग्न कर दिया जिसके बीज उनमें पूर्व में ही उनकी धार्मिक नर्स रम्भा, उनकी माता तथा शामल भट्ट की शिक्षात्मक गुजराती कविताओं ने डाल दिये थे।

गांधी में नैतिक अनुकूलन की शक्ति थी। फलस्वरूप, उन्होंने अपनी अड़चनों को भी लाभ में बदल दिया। उनकी एक अड़चन थी, उनका शर्मीलापन। इस वजह से उस निर्णायक घड़ी में भी उनकी जुबान बन्द रही, जब उनके लिए स्वयं को अभिव्यक्त करना बहुत आवश्यक था। यह अन्तर्मुखी स्वभाव उनके लिए एक बड़ी उलझन थी। इसने इंग्लैंड से लौटकर भारत में वकालत करने की उनकी योजना को समाप्त कर दिया था। लेकिन, उन्होंने अपनी इस असफलता का लाभ अपना चरित्र बदलने में उठाया। इसके बारे में वह अपनी आत्मकथा में लिखते हैं :

''...इसका सबसे बड़ा लाभ रहा है कि इसने मुझे यह सीख दी कि सत्य के एक उपासक के लिए मौन आध्यात्मिक अनुशासन का अंश है। जाने या अनजाने, सत्य में हेर-फेर करने या उसे दबाने की प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरी है, तथा इस पर विजय पाने के लिए मौन जरूरी है।''

गांधी में बचपन से ही सत्य के प्रति दृढ़ता थी। इस तथ्य को हम इस दृष्टान्त से जान सकते हैं कि अपनी पाठशाला में शिक्षक द्वारा उकसाये जाने के बावजूद उन्होंने धोखा देने के एक काम से इनकार कर दिया था। हालाँकि, उस इनकारियत से उन्हें बदनामी झेलनी पड़ी थी। इस तरह का व्यवहार अकेले बाह्य परिस्थिति की अनुरूपता से नहीं बन सकता था। यह केवल अन्दर की प्रेरणा या आवेग से ही बन सकता था। पुनः वह जब अफ्रीका गये तो उसी वर्ष एक सड़क के किनारे टहल रहे थे कि एक पुलिसवाले ने बिना किसी चेतावनी के गैर-कानूनी ढंग से उन्हें लात मार दी। मि. कोट्स नाम का एक यूरोपवासी वहाँ था और वह इस घटना को देख रहा था। उसने गांधी से आकर कहा कि आप इस पुलिस वाले के विरुद्ध केस दर्ज कराएँ और मेरा नाम चश्मदीद गवाह के रूप में दे दें। गांधी ऐसा करने से इनकार कर गये। वह मानते थे कि पुलिसवाला एक अन्यायी व्यवस्था का अंग है, इसलिए मुझे उस पुलिसवाले ने नहीं, बल्कि इस व्यवस्था ने लात मारी है। यह प्रकरण पुनः इस

रूप में भी महत्त्वपूर्ण है कि गांधी तब महज 24 साल के एक युवक थे और वकालत के पेशे में संघर्ष कर रहे थे। वह तब तक सुधारक नहीं बने थे। कैसे हर चीज उनके नैतिक विचारों में उन्हें सन्तुष्ट करने हेतु वापस लौटी, यह दादा अब्दुल्लाह के मुकदमे से स्पष्ट होता है। यह मुकदमा गांधी को सौंपा गया था। इस मुकदमे में सारे तथ्य गांधी के मुवक्किल के पक्ष में थे। स्वाभाविक रूप से गांधी यह मुकदमा जीत गये। इस बाबत कुछ भी विलक्षण नहीं था। लेकिन नहीं, गांधी ने यह निष्कर्ष निकाला; 'जब मैं दादा अब्दुल्लाह के मुकदमे की तैयारी कर रहा था तो मैं तथ्यों के सर्वोच्च महत्त्व को पूरी तरह समझ चुका था। तथ्यों का अभिप्राय था, सत्य। और, एक बार जब हम सत्य से चिपक जाते हैं तो स्वाभाविक रूप से कानून हमारी सहायता के लिए आ जाता है।' न्यायशास्त्र में भी उन्होंने धर्म का दर्शन किया। वह जब सांसारिक स्वामित्वों का त्याग करने की बाबत सोच रहे थे, तभी उनको यह महसूस हुआ कि सब कुछ का त्याग व्यावहारिक नहीं है। ऐसे में निराकरण के तौर पर उनके दिमाग में ट्रस्टीशिप का विचार आया। इस पर वह अपनी प्रतिक्रिया निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त करते हैं :

"...अँग्रेजी कानून का मेरा अध्ययन इस मामले में मेरा सहायक बन गया। स्नेल द्वारा न्याय के सिद्धान्त वाक्य का किया गया विवेचन मुझे याद आ गया। गीता के आलोक में मैंने इसे ज्यादा स्पष्ट ढंग से समझा जो 'ट्रस्टी' शब्द के निहितार्थ की शिक्षा देती है। न्यायशास्त्र के प्रति मेरा सम्मान बढ़ गया, मैंने इसमें धर्म की खोज की।"

वस्तुत: गांधी ने प्रत्येक चीज को एक आयाम में तब्दील कर दिया अर्थात नैतिक चीज एवं इसके साथ-साथ ठीक एक बिन्दु में अर्थात सत्य की तलाश में तब्दील कर दिया। वह केवल इस परम सन्दर्भ बिन्दु से ही राजनीति या समाज के भीतर की अपनी जिम्मेवारी को प्राप्त करते हैं। वह जीवन में जो नैतिक स्टैंड लेते हैं, उनके लिए राजनीतिक कर्तव्य उसी का एक अपरिहार्य संजात है। इस सम्बन्ध के बारे में वह बाद की तारीख में जब अपने विचार को पूरी तरह गढ़ चुके थे, निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखते हैं :

"सत्य के शाश्वत और सर्वव्यापी भाव को आमने-सामने देखने के लिए व्यक्ति को सृष्टि की सबसे तुच्छ चीज से अपने जैसा प्रेम करने के काबिल होना जरूरी है। और वह मनुष्य जो इसकी आकांक्षा करता है, वह जीवन के

किसी क्षेत्र से बाहर रहना बर्दाश्त नहीं कर सकता है। यही कारण है कि सत्य के प्रति मेरी अनुरक्ति मुझे राजनीति के क्षेत्र में खींच लायी है; तथा मैं पूरी विनम्रता से बेझिझक कह सकता हूँ कि वे जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कोई लेना-देना नहीं है, वस्तुत: वे धर्म का अभिप्राय नहीं जानते हैं।"

वह अपनी आत्मकथा के अन्त में अपने जीवन का लक्ष्य सभी तरह के अहंकारों के सर्वनाश के रूप में निर्धारित करते हैं :

"परन्तु, आत्म-शुद्धिकरण का मार्ग काफी मुश्किल और खड़ी चट्टान सरीखा है। पूर्ण शुद्धता को प्राप्त करने के लिए एक व्यक्ति को विचार, वक्तव्य और कार्य में परमत: मनोविकार-मुक्त होना पड़ता है, प्रेम और घृणा, लगाव और विलगाव की विरोधी धाराओं से ऊपर उठना होता है... जब से मैं भारत वापस आया हूँ, मैंने अपने अन्दर निष्क्रिय मनोविकारों को छुपा हुआ अनुभव किया है। उनकी जानकारी के कारण मैं अपमानित महसूस करता हूँ, पराजित नहीं। अनुभवों और प्रयोगों ने मुझे झेला है तथा अतिशय आनन्द प्रदान किया है। लेकिन, मैं जानता हूँ कि मेरे सामने अभी भी एक कठिन मार्ग है जिसे मुझको पार करना है, मुझे अपने को शून्य में परिवर्तित करना निहायत अनिवार्य है। जब तक एक व्यक्ति स्वयं को अपनी स्वतन्त्र इच्छा से साथी प्राणियों के बीच अन्त में नहीं रखता है, उसे मुक्ति नहीं मिल सकती है। अहिंसा विनम्रता की दूरतम सीमा है।"

राजनीति में सक्रिय भागीदारी निभाने वालों को यह सब रहस्यमय लगेगा। राजनीति का सर्वोपरि सरोकार समाज में उपलब्ध भौतिक संसाधनों के बँटवारे हेतु सत्ता के अर्जन और दावे और सत्ता के इस्तेमाल के जरिये मानवीय सम्बन्ध को आकार देने से होता है। मानवीय सम्बन्ध का यह निर्धारण अनेक समूहों की आपेक्षिक सत्ता को प्रतिबिम्बित करता है, जिनके पास सबसे अधिक सत्ता होती है, वे जनकल्याण के एक वृहत हिस्से को किनारे भी कर देते हैं और बेहतर हैसियत अर्जित कर लेते हैं। यह राजनीति की गेंद को इस तरह निर्धारित कर देता है कि वह लुढ़कती रहे, जिनके पास कमतर सत्ता या शक्ति होती है, वे अत्यधिक भागीदारी और उच्च हैसियत हासिल करने के लिए संघर्ष करते हैं, तथा उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अत्यधिक राजनीतिक सत्ता की तलाश करते हैं : कुछ संख्याबल का इस्तेमाल करते हैं तो कुछ

अपनी क्षमता का उपयोग बल से डराने के लिए करते हैं। सम्पूर्ण इतिहास में तमाम राजनीतिक रूप, चाहे वह लोकशाही हो या निरंकुशशाही या तानाशाही या सैन्यशाही, इन्हीं बुनियादी आकांक्षाओं के गिर्द घूम रहे हैं। गांधी के राजनीतिक कार्य के प्रस्थान बिन्दु के रूप में स्वयं को शून्य में परिणत करने का आह्वान पारम्परिक पदों में अभिव्यक्त सभी राजनीतिक सामान्य वृद्धि के सामने उड़ता है। यही कारण है कि अपने राजनीतिक संघर्षों के निर्णायक चरण में उनके द्वारा लिये गये कुछेक निर्णयों से न केवल उनके अनुयायी बल्कि विरोधी भी प्राय: चकरा जाते थे। उदाहरणस्वरूप, बारदोली का प्रस्तावित सविनय अवज्ञा आन्दोलन जिसका उन्होंने स्वयं नेतृत्व करने की योजना बनायी थी, उसे स्थगित कर दिया गया या उत्तर प्रदेश के चौरी-चौरा कांड के बाद पूरे भारत में शुरू किये गये सविनय अवज्ञा आन्दोलन को इसलिए स्थगित कर दिया कि उक्त गाँव की क्रुद्ध भीड़ ने 5 दिसम्बर 1922 को अत्याचारी पुलिसवालों के साथ हिंसा और आगजनी की घटना की थी। इस बाद वाले आन्दोलन को वापस लेने से राष्ट्रवादी लोगों ने स्वयं को ज्यादा अपमानित महसूस किया। लेकिन, गांधी पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनके लिए आजादी हासिल करने के साधन की शुचिता एक सम्भावित राजनीतिक लक्ष्य से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण थी। चौरी-चौरा उनके लिए एक चेतावनी थी कि आन्दोलन अपने निर्धारित मार्ग का पालन करने का समुचित अनुशासन अर्जित नहीं कर पाया है। बारदोली सत्याग्रह की तैयारी के पूर्व वह अपनी वार्ता के दौरान वायसराय रीडिंग से कह चुके थे, 'हमारा आन्दोलन धार्मिक है जिसका उद्देश्य भ्रष्टाचार, छल, आतंकवाद तथा श्वेत सर्वश्रेष्ठता के सन्तापक प्रभाव वाले भारतीय राजनीतिक जीवन को शुद्ध करने का है।' यह उनकी विशिष्ट अभिवृत्ति थी।

पुन: दक्षिण अफ्रीका में ऐन जब सत्याग्रह आन्दोलन अपने चरम पर था और गांधी एक भारतीय दल के साथ सरकारी प्रतिबन्ध के विरुद्ध जनवरी 1914 में डरबन से ट्रांसवाल पार करने वाले थे कि आन्दोलन स्थगित कर दिया, क्योंकि रेलमार्ग के कर्मचारी हड़ताल पर चले गये थे। इस सन्दर्भ में उनका स्पष्टीकरण था कि विरोधी को नेस्तनाबूद करना, चोट पहुँचाना, नीचा दिखाना या तिक्त करना या उसे कमजोर कर विजय हासिल करना, सत्याग्रह की रणनीति का हिस्सा नहीं है; सत्याग्रही विरोधियों की परेशानियों से लाभ

उठाने का प्रयास नहीं करते हैं। यद्यपि इस बार उदार व्यवहार की दक्षिण अफ्रीकी शासन द्वारा थोड़ी प्रशंसा की गयी, लेकिन राजनीतिक संघर्ष के सभी स्वीकृत मानकों के बावजूद निर्णय बह चला। सामान्यत: हर व्यक्ति राजनीतिक विरोधियों की कमजोरी से लाभ उठाना चाहता है और उसको इससे बेहतर तरीका नजर नहीं आता है। मूलत: राजनीति में इन्हीं चतुराइयों और रणनीतियों का स्थान होता है। लेकिन, गांधी के लिए सत्याग्रह विरोधियों पर विजय प्राप्त करने के साधन से ज्यादा विरोधियों का दिल जीतने का साधन है। वह हमेशा सफल नहीं हुए; लेकिन उन्होंने अपने इस विचार में कोई सुधार नहीं किया और अन्त तक इस विचार से जुड़े रहे।

इन सबके पीछे गांधी की एक ही कामना थी कि पाप के विरुद्ध लड़ा जाए, न कि पापियों के विरुद्ध। यद्यपि यह अन्तर कर पाना अत्यन्त कठिन है क्योंकि एक बुरे काम का कर्ता हमेशा कोई-न-कोई मनुष्य ही होता है, लेकिन इस अभिवृत्ति के पीछे गम्भीर तर्कशक्ति निहित है। यह अत्यन्त रोचक है कि उन्नीसवीं सदी के यूरोप के समाजवादी आन्दोलन सरीखे अधिकांश सुधार आन्दोलनों ने मनुष्य के असामाजिक रुझानों के लिए उस सामाजिक व्यवस्था को दोषी ठहराया जिनके अन्दर वे रहते थे। इसलिए, दबाव व्यक्ति को बदलने की बजाय व्यवस्था को बदलने पर था। इसने तार्किक ढंग से उस बात का अनुसरण किया कि एक बुरी सामाजिक व्यवस्था के अन्दर किसी बुरे कार्य के लिए मनुष्यों को नहीं, बल्कि व्यवस्था को दोष देना चाहिए। इस तरह, इस विचार के अनुसार बुरे कार्यों के लिए मनुष्यों को दंड देने का कोई मतलब नहीं है। लेकिन, गांधी अकेले इस दृष्टिकोण के तर्क का अनुसरण करने वाला प्रतीत होते हैं। उन्होंने बुरी प्रथा को बदलने के लिए संघर्ष किया, लेकिन प्रत्येक शिरा को खींचे रखा कि उक्त प्रथा या व्यवस्था से सम्बद्ध व्यक्तियों को कोई क्षति नहीं पहुँचे। इसके विरुद्ध यूरोप के सुधारकों और आन्दोलनकारियों ने न केवल ज्यादतियों के लिए सीधे जिम्मेवार लोगों के विरुद्ध बल्कि उनके विरुद्ध भी जो महज उस निश्चित वर्ग में पैदा हुए थे जो शोषक माना जाता था, हर तरीके से बदला लिया। गांधी और यूरोपीय सुधारकों के दृष्टिकोण में एक मौलिक अन्तर है। हालाँकि, दोनों ने ही उन निश्चित अमूर्त सिद्धान्तों को ठोस रूप देने के लिए संघर्ष किया जिनके अनुसार दुनिया को एक शक्ल देनी थी। लेकिन, गांधी जब यातना झेलते हैं तो इसके माध्यम

से वह आशा करते हैं कि विरोधियों का हृदय परिवर्तन कर अपने विचारों की उस दुनिया को साकार करेंगे, जबकि यूरोपीय सुधारक अपने विचारों को मूर्त रूप देने में जो भी विरोधी सामने आता है, उसका सफाया कर देते हैं। क्या सुधारकों का वह विचार अन्त में गलत साबित हुआ? इस प्रश्न का सुधारकों के पास कोई जवाब नहीं था। निस्सन्देह, उसी तरह लक्ष्य के प्रति अनिश्चित होकर अत्यधिक हिंसा के साथ एक नयी रेखा के गिर्द फिर से प्रयासों को सभी जगह शुरू किया जाना था। इसने आवर्ती हिंसा और युद्ध के एक विस्तृत इलाके को अनुक्रमबद्ध कर दिया। यदि, दूसरी तरफ, अहिंसक नायक का अमूर्त सिद्धान्त गलत साबित हो गया, तो इसके लिए और कोई नहीं, बल्कि नायक ज्यादा बुरा हुआ। ऐसी स्थिति में गांधी पुन: अपने नैतिक भंडार से दृढ़ विश्वास प्राप्त कर लेते हैं। उनकी अभिवृत्ति वैराग और आत्मनिग्रह की माँगों के अनुरूप थी : सभी आवेशपूर्ण कार्यों का निर्मूलन उनकी आस्था का मूलभूत सिद्धान्त था, तथा हिंसा उनकी नजर में सबसे भयानक आवेश की अभिव्यक्ति थी।

उनकी सेवा करने की लालसा, एक अनोखी लालसा थी। प्रत्येक शालीन व्यक्ति पीड़ित लोगों की सेवा को एक महान कर्तव्य के रूप में देखता था। लेकिन, अधिकांश लोगों के लिए यह एक कष्टप्रद काम था, यद्यपि यह एक अनिवार्य कर्तव्य था। लेकिन, गांधी के लिए सेवा एक आंतरिक प्रेरणा थी जिसकी पूर्ति से उन्हें बड़ा सुख मिला। उनके दरवाजे पर एक कुष्ठ रोगी आता है। उनका हृदय नहीं करता है कि उसे भोजन देकर चलता कर दें। वह उसे अपनी छत के नीचे आश्रय देते हैं, उसके घावों की सफाई करते हैं तथा उसकी नियमित देख-रेख शुरू कर देते हैं। हालाँकि, उनके जीवन की परिस्थितियाँ ऐसी नहीं थीं कि वह इस आनन्ददायक काम को जारी रखें। उन्हें उसे एक अस्पताल में भेज देना पड़ता है। लेकिन, सेवा करने का उनका हार्दिक उत्साह बना रहता है। इसलिए, वह सन्त ऐडंस मिशन के डॉ. बूथ की देखरेख में एक छोटा धर्मार्थ अस्पताल शुरू करते हैं और हर रोज वहाँ दो घंटे का समय देकर दवा बनाने के नियमित काम का जिम्मा उठाते हैं। उन्हें वे चीजें भी असीम आनन्द देती थीं जो एक सामान्य मनुष्य में भय और अरुचि पैदा करती हैं। केवल उन चीजों का अभिप्राय दूसरे प्राणियों की सेवा होना चाहिए था। उन्हें काला प्लेग से भी भय नहीं था। उन्हें जब जोहांसबर्ग के

नजदीक भारतीय खान कर्मचारियों के बीच इसके फैलने की खबर मिली तो वह उनके बचाव के लिए डरबन से सीधे वहाँ पहुँच गये। रोग इतना भयानक था कि उनकी देखरेख में जिन तेईस रोगियों को रखा गया था, उनमें से इक्कीस मर गये। केवल दो ही मरीज जिन्हें वह मिट्टी और जल चिकित्सा के तहत रखते थे, बच पाये। उनके साथ नगरपालिका की एक नर्स सेवा करने आयी थी, उसे भी संक्रमण लग गया और वह मर गयी। लेकिन, इस स्पष्ट खतरे के बावजूद वह पूरे समय सेवा करने के अपने संकल्प से विचलित नहीं हुए। वह स्वयं इसका जिक्र करते हैं :

"देशभक्ति की तरह सेवा का रुझान भी मेरे स्वभाव में गहरे पैठा था। मुझे लोगों की सेवा करना पसन्द था, चाहे वे दोस्त हों या अजनबी।"

स्वभावत: वह उस चीज के लिए किसी बड़ी राजनीतिक घटना से भी ज्यादा चिन्ता जाहिर करते थे जिसे वह स्वयं में या स्वयं से जुड़े व्यक्तियों में एक नैतिक पतन मानते थे। अफ्रीका के फोनिक्स फार्म के दो सहवासियों की नैतिक शिथिलता के प्रति अपनी प्रतिक्रिया का गांधी का अपना विवरण इसे सबसे अच्छे तरीके से समझाता है। वह लिखते हैं :

"मैं जब एक बार जोहांसबर्ग में था, मुझे आश्रम के सहवासियों में से दो के बारे में नैतिक पतन का समाचार मिला। सत्याग्रह संघर्ष की स्पष्ट असफलता या वापसी के समाचार से मुझे कोई तकलीफ नहीं हुई थी, लेकिन यह समाचार मेरे लिए वज्रपात सरीखा था। उसी दिन मैंने फोनिक्स के लिए गाड़ी पकड़ ली। मि. क्लेनबाक मेरे साथ चलने के लिए दबाव बनाने लगे। वह मेरी स्थिति देख रहे थे। उन्हें मेरे अकेले जाने का विचार बर्दाश्त नहीं हुआ, क्योंकि वह उस समाचार के वाहक थे जिसने मुझे अशान्त कर दिया था।

"... मैंने अनुभव किया कि दोषी व्यक्तियों को अपने दु:ख एवं उनके नैतिक पतन की गहराई का अहसास कराने का एकमात्र तरीका है कि मैं ही पश्चाताप करूँ। इसलिए, मैंने सात दिनों का उपवास रखा तथा साढ़े चार महीने तक केवल एक शाम भोजन करने का संकल्प लिया..."

लगभग हर कुछ बाजकर वह अपने नैतिक विषय के प्रति सम्पूर्णता में कितना प्रतिबद्ध थे, इसे अफ्रीकी जेल से 25 मार्च 1909 ई. को उनके द्वारा अपने सत्रह वर्षीय पुत्र मणिलाल को लिखे गये पत्र से अच्छी तरह समझ सकते हैं। अन्य चीजों के अलावा वह लिखते हैं :

''मैं नाथूरामजी की उपनिषदों की प्रस्तावना के एक परिच्छेद से काफी प्रभावित हुआ था। वह कहते हैं कि ब्रह्मचर्य अवस्था – अर्थात प्रथम अवस्था अन्तिम जैसी होती है; अर्थात संन्यासी की अवस्था। यह सत्य है। अज्ञानता की उम्र में अर्थात बारह वर्षों की उम्र तक केवल मनोरंजन ही होता रहता है। एक लड़का ज्योंही विवेक की उम्र प्राप्त करता है, उसे अपनी जिम्मेवारियों का अहसास करने की शिक्षा दी जाती है। इस उम्र से आगे प्रत्येक लड़के को कार्य और विचार में शुचिता का पालन करना चाहिए। उसी तरह सत्य का अनुपालन करना चाहिए और किसी जीवन पर ध्यानपूर्वक विचार नहीं करना चाहिए। किसी भी तरह यह उनके लिए कोई कष्टदायक ज्ञान और अभ्यास नहीं हो, बल्कि पूरी तरह स्वाभाविक और आनन्ददायक हो। मुझे राजकोट के ऐसे अनेक लड़कों की याद ताजा है। मैं तुम्हें बतला दूँ कि जब मैं तुमसे छोटा था, मुझे अपने पिता की सेवा करने में सबसे ज्यादा आनन्द मिलता था। बारह वर्ष की उम्र के बाद मैंने कभी मनोरंजन नहीं किया। तुम तीन सद्गुणों का पालन करो और उन्हें अपने जीवन का हिस्सा मान लो, तो तुम्हारी शिक्षा या प्रशिक्षा पूरी हो जाएगी...।

''कृपया याद करें, गरीबी अब से हमारी नियति है। इसके बारे में मैं जितना ज्यादा सोचता हूँ, उतना ही ज्यादा मैं अनुभव करता हूँ कि यह धनी होने से ज्यादा गरीब होने के लिए शापित है। गरीबी का उपयोग धन के उपयोग से कहीं अधिक मीठा होता है।''

गांधी के प्रशंसक और जीवनीकार लुईस फिशर ने उक्त पत्र का भरपूर उद्धरण दिया है। वह अपनी प्रक्रिया निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त करते हैं :

''...गांधी की नि:स्वार्थ निषेधाएँ अपने पुत्र की भलाई के लिए थीं, लेकिन उस कठोर अधिकारी के अधीन जो स्वच्छ ढंग से भंडारगृह में रखे गये उपकरणों को चाहते थे, ब्रह्मचर्य, गरीबी और कठिन कार्य की सम्भावना जीवन की दहलीज पर उस युवा व्यक्ति को कुछ रोमांच देती है।

''तेरह साल की उम्र में ही शादी हो गयी थी, इसलिए गांधी को किशोरावस्था का अनुभव नहीं हुआ था और न ही उन्होंने अपने किशोरों को कभी समझा। मणिलाल को लिखे गये उक्त पत्र से यही प्रकट होता है। इसमें भविष्य की रूपरेखा के रूप में सत्य का सद्गुण निहित था, लेकिन वह सत्य निषेधकारी था। यह तथ्य कि पिता ने बारह वर्ष के बाद जीवन का कोई आनन्द नहीं

उठाया, सचमुच में एक संवेदनशील पुत्र को उदास या भयभीत किया होगा। इस तरह के एक पिता के साथ रहना कठिन है। इस तरह का पिता ही ऐसा पत्र लिखता है। वस्तुत: उस पत्र का आशय था – 'तुम्हारा जीवन मुझसे बँधा रहेगा। तुम अपनी मर्जी से नहीं चल सकते हो।' गांधी एक सहयोगी चाहते थे; मणिलाल को आजादी चाहिए थी। वह एक वकील या डॉक्टर बनना चाहते थे और उनके पिता उन्हें सन्त बनने की शिक्षा दे रहे थे।''[1]

निस्सन्देह, फिशर यहाँ चूक जाते हैं। वह गांधी की अभिवृद्धि को उनके बाल-विवाह से जोड़कर देखते हैं। गांधी जब किशोर थे, भारत में बाल-विवाह प्राय: सार्वभौमिक था। तथापि, अधिकांश युवा माँ-बाप अपने बच्चों के प्रति काफी कृपालु होते थे। गांधी न केवल जिम्मेवारी ही लाद रहे थे बल्कि गरीबी का जीवन भी लाद रहे थे जिसे शायद ही कोई दूसरा पिता प्रोत्साहित करता। गांधी का रुझान महज दुनिया में महत्त्व रखने वाले कर्तव्य और सद्गुण के जीवन के सिवाय किसी अन्य चीज को देख पाने की उनकी अयोग्यता से उत्पन्न हुआ था।

गांधी के विद्रोही पुत्र हरिलाल गांधी 1915 ई. में गांधी को लिखे गये अपने एक खुले पत्र में उस अनुभूति का दर्दनाक प्रकटीकरण करते हैं जिसे उनके दूसरे पुत्रों ने भी साझा किया होगा। उस लम्बे पत्र के अन्त में हरिलाल लिखते हैं :

''मेरा सम्पूर्ण पत्र एक ही बात पर बल देता है, वह यह कि आपने हमारी कमजोरी के लिए कभी कोई रियायत नहीं बख्शी। आपने कभी भी हमारे अधिकारों के बारे में नहीं सोचा। आपने कभी भी एक व्यक्ति की क्षमता पर गौर नहीं किया। आपके उपदेश और कार्य निषेधकारी हैं। उनका अनुसरण करने में मैं स्वयं को अक्षम पाता हूँ। आपके समक्ष आपका पुत्र और अन्य लोग एकसमान हैं। दो व्यक्तियों पर आरोप लगा तो अपने पुत्र के सामने आपने उस दूसरे व्यक्ति पर दोष मढ़ना कभी उचित नहीं समझा। आपके विचार से पुत्र को हर चीज झेलनी चाहिए। दुर्भाग्यवश, मैं इतनी सारी चीजों को सहन नहीं कर सकता हूँ।''

उक्त कथन के पहले उसी पत्र में एक दूसरी जगह लिखते हैं – ''हम लोगों में यह विचार डाल दिया गया था कि हमें केवल उपकरणों के रूप में इस्तेमाल होना है।''

इन आरोपों में कुछ सच्चाई प्रतीत होती है। गांधी अपने शुद्धता के विचार से इतना ज्यादा अवशोषित हो गये थे कि वह इस तथ्य के प्रति बिल्कुल अन्धा हो गये थे, कि कुछ लोगों के पास अपनी दृष्टि है और उन्होंने भी उनकी तरह ही एक परिवेश का निर्माण किया है जिसके अन्दर वे रहते हैं। जीवन के प्रति उनका रुझान 'गीता' के तीसरे अध्याय की उनकी टीका की निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्टत: व्यक्त होता है :

''मैं इस अध्याय को गीता को समझने की कुंजी कहता हूँ और इसका सार यह है कि जीवन हमें सेवा के लिए मिला हुआ है, न कि आनन्द के लिए। अतएव हमें अपने जीवन को एक त्याग सम्बन्धी चरित्र प्रदान करना है। इस तर्क-वाक्य पर प्रज्ञात्मक सहमति केवल पहला कदम है, लेकिन ऐसी सहमति और उक्त सहमति के रूप में आचरण, ये समय के साथ अपनी अशुद्धताओं से हमारे हृदय को मुक्त करने के लिए बाध्य हैं। लेकिन, वास्तविक सेवा क्या है? इस प्रश्न का सही उत्तर प्राप्त करने के क्रम में इन्द्रियों का निग्रह अनिवार्य है, क्योंकि यह हमें सत्य के ईश्वर की अत्यन्त स्पष्ट दृष्टि प्रदान करता है। सेवा में यदि स्वार्थ आ जाए तो वह त्याग नहीं हो सकती। इसलिए, अनासक्ति के भाव की अत्यन्त आवश्यकता है...।''

अपने निजी जीवन की स्थितियों के प्रति गांधी का रवैया कैसा था? इसे हम दक्षिण अफ्रीका से किये गये एक आह्वान के प्रति गांधी की प्रतिक्रिया में देख सकते हैं। इस आह्वान का गांधी पर इतना प्रभाव पड़ा था कि बम्बई का बसा-बसाया अपना घर उन्हें छोड़ना पड़ा। इसका उल्लेख गांधी ने अपनी आत्मकथा में किया है। उन्होंने लिखा है :

''पत्नी और बच्चों से अलगाव, बसा-बसाया घर छोड़ना तथा निश्चित से अनिश्चित की ओर प्रस्थान– यह सब एक क्षण के लिए अत्यन्त दर्दनाक था, लेकिन एक अनिश्चित जीवन के प्रति मैं स्वयं को अभ्यस्त बना चुका था। मेरी समझ से इस संसार में निश्चितताओं की आशा करना गलत है। यहाँ सत्य ही ईश्वर है, और इस सत्य के सिवाय कुछ भी निश्चित नहीं है। हमारे आस-पड़ोस में जो कुछ भी दिखता या घटित होता है, सब कुछ अनिश्चित और क्षणभंगुर है। लेकिन, इन सबमें निश्चितता के तौर पर एक सर्वोच्च सत्ता छुपी रहती है और वह व्यक्ति सौभाग्यशाली होता है जो इस निश्चितता का दर्शन कर लेता है तथा इससे अपनी गाड़ी को जोड़ लेता है। उस सत्य की खोज ही जीवन का परम पुरुषार्थ है।''

इस तरह, उनके लिए जीवन का तुच्छ आनन्द, किशोर लड़कों का जीवनानन्द भी, महज तुच्छता थी। उनके लिए जीवन उस सत्य की प्राप्ति की एक लम्बी तीर्थयात्रा थी, जो उनकी नजर में ईश्वर था। उन चीजों का त्याग करना था जो विकर्षण पैदा करती थीं। वह अपनी आत्मकथा में एक घटना का जिक्र करते हैं कि कैसे अपने अन्तरंग सहयोगी क्लेनबाक के साथ लन्दन की समुद्री यात्रा करते हुए उन्होंने क्लेनबाक की पसन्दीदा दूरबीन को समुद्र में फेंक दिया। वह लिखते हैं :

''वह करीब सात डॉलर की थी। लेकिन, उसका मूल्य कीमत में कम और क्लेनबाक की उसके प्रति प्रेमान्धता में ज्यादा निहित था।' शायद वह दूरबीन दूर की वस्तुओं को देखने की उस जिज्ञासा को संकेतित भी कर रहा था जो कि गांधी के स्वभाव से भिन्न थी। मि. स्टोक नामक एक ईसाई थे जिन्हें गांधी के असहयोग कार्यक्रम के प्रति सहानुभूति थी, लेकिन वह अफगान आक्रमण को लेकर आशंकित थे। उनके पत्र के जवाब में गांधी ने लिखा था :

''मैं एक आधुनिक मनुष्य के रूप में कहता हूँ : 'मैं दूर का परिदृश्य (भविष्य) देखने के लिए नहीं कहता हूँ, मेरे लिए एक कदम ही पर्याप्त है।' आन्दोलन अनिवार्य रूप से धार्मिक है। ईश्वर से डरने वाले प्रत्येक मनुष्य का धन्धा स्वयं को परिणामों की सम्पूर्ण अनदेखी कर बुरी चीजों से अलग करना है। उसे बहरहाल, अच्छे कार्यों में विश्वास करना चाहिए कि अच्छा परिणाम निकल सके : क्योंकि यह मेरे विचार से बिना किसी आसक्ति के कर्म से सम्बन्धित गीता का उपदेश है। ईश्वर भविष्य में झाँकने की इजाजत नहीं देते हैं...।'' (यंग इंडिया, 29 दिसम्बर 1920)

यह एक विशिष्ट धार्मिक अभिवृत्ति है। इसमें ईसा का सन्देश प्रतिध्वनित होता है– 'इसलिए, कल के बारे में चिन्तित मत होइए, क्योंकि कल स्वयं के लिए चिन्तित रहेगा। आज की अपनी समस्या को ही आज के लिए पर्याप्त मानिए।' (मैथ्यू 6-34)

यही केवल एक ऐसी आस्था है जो एक व्यक्ति को सबसे सुदृढ़ व्यक्ति के विरुद्ध ललकारने के लिए प्रेरित कर सकती है तथा अपने अनुयायियों को सबसे बर्बर दमन के सामने चट्टान की तरह अड़े रहने की इच्छा के साथ प्रेरित भी कर सकती है। जिस क्षण वह अपने कार्य के दूरस्थ और नजदीकी लाभों

एवं हानियों का उपाय साधना शुरू कर देता है, बड़ी विसंगतियों के विरुद्ध उठ खड़ा होने की वह इच्छा समाप्त होने लगती है। यदि पसन्द स्पष्ट रूप से दिये गये हों, तो बहुत कम लोग भौतिक लाभों के लिए अपनी जान या अंग का खतरा उठाएँगे। ऐसा केवल तभी होता है, जब वे उस किसी बड़ी चीज या बड़े हित के लिए संघर्षशील होने का अनुभव करते हैं जिसमें उनका वह सम्मान या विश्वास अन्तर्निहित प्रतीत होता है जिसके लिए लोग अपना सब कुछ दांव पर लगा देने के लिए तैयार रहते हैं।

अपरिहार्यत:, ऐसे विश्वास में व्यक्ति को कला और विज्ञान से दूर रखने की भी मंशा होती है। विज्ञान आस-पड़ोस की प्रत्येक चीज के बारे में अतृप्त जिज्ञासा से उत्पन्न होता है तथा कला न केवल चरम अतिशयोक्तियों के लिए तत्पर रहती है, बल्कि अच्छे और बुरे को अलग करने वाली रेखा को धूमिल करने का इरादा भी रखती है। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि नैतिक लोगों का इरादा कला की भर्त्सना करने का हो गया है। टॉल्सटाय सरीखे महान साहित्यिक कलाकार जब समाज के नैतिक उत्थान के लिए चिन्तित रहने लगे, तो उन्हें भी कला पर रोक लगाने की वकालत करनी पड़ी थी।

ध्यातव्य है कि गांधी के चरित्र को हम उस तरीके से नहीं समझ सकते हैं जो तरीका हमने एक सामान्य मनुष्य के मूल्यांकन के लिए निर्धारित किया है। उन्हें हम तभी समझ सकते हैं जब उन्हें एक अपवादात्मक रूप से उच्च नैतिक संवेदनशीलता वाले मनुष्य के तौर पर लेंगे। उनका यही गुण उन्हें पैगम्बरों के बीच स्थापित करता है। ऐसा तभी होता है, जब हम इस रोशनी में उनके उस राजनीतिक आचरण का मूल्यांकन करना शुरू करते हैं जो एक एकतावादी सूत्र थे। यह एकता का सूत्र उनके विविध कार्यों में दृष्टिगोचर होता है। यह हमें उनकी राजनीति को समझने की क्षमता भी प्रदान करता है। अन्यथा, उनकी उन दिनों की राजनीति स्पष्टत: काफी सनकी मालूम पड़ेगी, जिन दिनों यह राजनीतिक समस्याओं तक पहुँचने के तमाम नये मार्गों को सुलभ बनाते हुए अत्यन्त सृजनात्मक हो चली थी।

सन्दर्भ

1. लुईस फिशर, द लाइफऑफ महात्मा गांधी, हार्पर एंड रॉ पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क 1983, पृष्ठ-94।

शाश्वत नैतिकता की ओर

गांधी के नैतिक विचारों का निर्धारण और विकास इस ढंग से हुआ कि इसने अन्य समकालीन नैतिक विचारों की तुलना में गांधी के विचारों को ज्यादा शाश्वत बना दिया। निस्सन्देह, इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि गांधी का जन्म एक ऐसी दुनिया में हुआ था जो काफी संकुचित हो गयी थी और संचार के जो साधन विकसित हो रहे थे, वे सारी दुनिया की समस्याओं को उसकी दहलीज तक पहुँचा चुके थे। लेकिन, उनकी शाश्वतता भी उनके उस अपने विशिष्ट विकास से उत्पन्न हुई थी जिसने अनेक महान धर्मों और समकालीन नैतिक धाराओं के साथ घनिष्ठ सम्पर्कों का अनुक्रम बन्धन कर दिया था।

पश्चिम के नैतिक विचारों से उनका पहला मुकाबला शाकाहार और ब्रह्मवाद (थियोसॉफी) के माध्यम से हुआ था। शाकाहार ने उन्हें उनकी उन भोजन-सम्बन्धी लतों की बाबत विश्वास प्रदान किया था जिनको लेकर वह पहली दफा इंग्लैंड गये तो काफी चिन्तित रहते थे। उन्होंने शाकाहार का पालन किया क्योंकि वह वचनबद्ध थे। उन्होंने अपनी माता के समक्ष शाकाहारी रहने की शपथ ली थी। हालाँकि, उन्होंने उस वक्त तक इसे सिद्धान्तत: स्वीकार नहीं किया था। लेकिन, इंग्लैंड में जब देखा कि बहुत से ऐसे यूरोपीय और अँग्रेज हैं जो शाकाहारी बन रहे हैं तो उन्हें इस बात से सुकून मिला। वह शाकाहारवाद की सम्पूर्ण जाँच में पड़ गये और यह ढूँढ़ निकाला कि यह उस आदर्श जीवन के बिल्कुल अनुरूप है जिसको वह आगे चलकर अपने समक्ष निर्धारित करने वाले थे। इस सन्तुष्टि का लाभ यह हुआ कि शाकाहार उनके साथ केवल इसलिए नहीं बना रहा कि यह एक संकीर्ण पारिवारिक परिवेश प्रदत्त हठधर्म था, बल्कि यह जीवन के प्रति उनकी सम्पूर्ण अभिवृत्ति का हिस्सा बन चुका था। उन्होंने आगे चलकर अपनी आत्मकथा में शाकाहारियों के नैतिक विचारों के बारे में लिखा, 'वे नैतिक रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँच

चुके थे कि अपने से निम्न प्राणियों पर मनुष्यों की श्रेष्ठता इसलिए नहीं है कि मनुष्य उन प्राणियों का शिकार करता है, बल्कि इसलिए है कि मनुष्य उन प्राणियों की रक्षा करता है। इन दोनों के बीच इस तरह का आपसी सहयोग रहना चाहिए जैसा कि मनुष्य और मनुष्य के बीच रहता है।' यद्यपि स्पष्टत: यह हल्के परिणाम का था, इस प्रवृत्ति का धरती की पारिस्थितिकीय साम्यावस्था के साथ अच्छा व्यवहार था। अस्त्र और आखेट कौशल के अर्जन से अतिवध करने की मनुष्य की प्रवृत्ति ने धरती के जीव-जन्तुओं के बड़े हिस्से को नष्ट कर दिया है। आधुनिक औद्योगिकवाद के आगमन से उक्त प्रवृत्ति ने सनकी समानुपात धारण कर लिया है। इस प्रसंग में शाकाहारवाद ने उस जीवन समर्थक व्यवस्था को जिसमें कि वह पैदा हुए थे, उजाड़ स्थिति में कर देने वाली मानवीय प्रवृत्ति के विपर्यय की माँग की। बाद में सबसे साधारण वस्तु के भी उपयोग में कंजूसी उनके अहिंसा के धर्म का हिस्सा बन गयी। हालाँकि, इंग्लैंड प्रवास के दूसरे वर्ष के दौरान दो थियोसॉफिस्टों से हुई उनकी मुलाकात ने उनकी सबसे गहरी धार्मिक अनुभूतियों को जगा दिया था। उन्हीं लोगों ने पहली बार उनका गीता से परिचय कराया और उन्हें सर एडविन आर्नोल्ड द्वारा किये गये इसके अनुवाद 'दी साँग सेलेसियल' (दिव्यगान) को एक साथ पढ़ने के लिए आमन्त्रित किया। उनके मस्तिष्क पर जिन श्लोकों ने गहरी छाप छोड़ी वे निम्नलिखित हैं :

''यदि कोई मनन करता है, अनुभव की वस्तुओं का,
तो उत्पन्न होता है आकर्षण; आकर्षण से उत्पन्न होती है इच्छा,
इच्छा से प्रज्वलित होता है घोर मनोविकार;
मनोविकार से उत्पन्न होती है अविचारिता;
उनकी स्मृति-सब धोखा देती है - उद्देश्यपूर्ति तक,
मन और मनुष्य सभी विनष्ट हो जाते हैं।''

ये पंक्तियाँ जीवन-भर उनके व्यक्तिगत आचरण को आकार देने में एक मार्ग निर्देशक की भूमिका निभाती रहीं।

उक्त दोनों ब्रह्मवादियों (थियोसॉफिस्टों) की संगति में उन्होंने बुद्ध की जीवनी 'दी लाइट ऑफ एशिया' पढ़ी जिसे सर एडविन आर्नोल्ड ने ही लिखी थी। लगभग यही समय था जब उनकी मुलाकात मैनचेस्टर के एक ईसाई व्यक्ति से हुई, जिसने उनका बाइबिल से परिचित कराया। वह हमसे कहते हैं— 'लेकिन

बाइबिल के नये विधान ने, विशेषत: 'सरमन ऑन दी माउंट', एक भिन्न प्रभाव प्रस्तुत किया जो सीधे मेरे हृदय में बैठ गया। मैंने इसकी तुलना गीता से की। ये छंद, 'लेकिन मैं तुमसे कहता हूँ, तुम शैतान का प्रतिरोध मत करो; लेकिन कोई भी तुम्हारे दायें गाल पर प्रहार करता है तो तुम अपना बायाँ गाल भी उसकी तरफ बढ़ा दो और यदि कोई तुम्हारी कोट छीन रहा है तो अपनी घड़ी भी उसे दे दो' मुझको असीम आनन्द दिये और मेरे दिमाग में शामल भट्ट की कविता '... फॉर ए बाउल' ताजा हो गयी। शामल भट्ट की ये पंक्तियाँ जो बचपन में उन्हें भावविभोर कर दी थीं, इसका जिक्र उनकी आत्मकथा में भी आता है। इसकी पुनरभिव्यक्ति से यह बात जाहिर होती है कि इन पंक्तियों का उन पर 'सरमन ऑन दी माउंट' जैसा ही प्रभाव पड़ा था। इस तरह, 'सरमन ऑन दी माउंट' (ईसा के उपदेश) ने एक अर्थ में केवल उनके उस अंगारावशेष को पुनर्जीवित कर दिया जो पहले से उनके हृदय में शान्त पड़ा था। शामल भट्ट की पंक्तियाँ लगभग यथा निम्नलिखित हैं :

''एक कटोरा पानी के लिए अच्छा-सा भोजन लाओ;
कृपाशील अभिवादन हेतु श्रद्धा से तू सिर झुकाओ;
हो रकम छोटी तब भी, स्वर्ण के साथ वापस लौटाओ;
यदि तेरे जीवन का उद्धार हो तो जीवन रोकता नहीं है;
इस तरह, बुद्धिमान के कर्म और वचन सम्मान देते हैं,
हर छोटी सेवा का वे दस गुना पुरस्कार देते हैं।
लेकिन, सच्चा महान व्यक्ति सभी मनुष्यों का एक मानता है,
और प्रसन्नता के साथ बुराई के बदले अच्छाई
कर दिखाते हैं।''

गांधी पर बाइबिल के नवविधान एवं अन्य पश्चिमी विचारकों के प्रभाव को उद्धृत करते हुए रोमा रोलां लिखते हैं :

''एक अँग्रेज पादरी ने जब (25 फरवरी 1920 को) गांधी से यह पूछा कि आप पर किन पुस्तकों का सबसे ज्यादा प्रभाव पड़ा है, तो गांधी ने जवाब दिया, 'बाइबिल के नवविधान का।' और आगे गांधी रस्किन और टॉल्सटाय का उल्लेख करते हैं।

''गांधी के नैतिक धर्म के अन्तिम शब्द उक्त नवविधान से उद्धृत हैं, तथा वह दावा करते हैं कि सत्याग्रह का इलहाम उन्हें 'सरमन ऑन दी माउंट' को

पढ़ने के बाद हुआ। जब पादरी ने विस्मय में यह पूछा कि क्या आपने इस तरह का सन्देश किसी हिन्दू धर्मशास्त्र में नहीं देखा है, तो गांधी का जवाब था – श्रीमद्भागवत गीता के प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा है, मैं उसकी प्रशंसा करता हूँ। उससे मुझे प्रेरणा और मार्गदर्शन मिला है, लेकिन सत्याग्रह का रहस्य बाइबिल के नवविधान से ही स्पष्ट हुआ है।' वह कहते हैं, जब मुझे इलहाम हुआ और फिर गीता ने उस इलहाम को सम्पुष्ट कर दिया तो काफी प्रसन्नता हुई। गांधी यह भी कहते हैं, टॉल्सटाय का यह आदर्श था कि भगवान का राज्य हमारे अन्दर होता है। इस आदर्श ने मुझे अपने निजविश्वास को एक वास्तविक सिद्धान्त में बदलने में मेरी मदद की।''[1]

उनका मन सभी समकालीन महान नैतिक विचारों के लिए एक गलन पात्र बन गया था। उन्हों पैगम्बर के जीवन को कार्लाइल के 'हीरो एंड हीरो-वर्शिप' में भी पढ़ा और पैगम्बर मोहम्मद की महानता, बहादुरी और उनके अतिसरल जीवन से काफी प्रभावित हुए। लेकिन, दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए वह इस्लाम के सम्पर्क में भी आये जहाँ उनके मुसलमान अन्तरंग मित्रों की संख्या काफी थी।

यद्यपि गांधी के अन्दर ईसा और उनके उपदेशों के प्रति बहुत ज्यादा सम्मान था, वह ईसाइयत कबूल करवाने के तमाम प्रयासों को हमेशा झिड़क देते थे। उनका मन सभी धर्मों में सामान्य सन्देश की खोज करता था। वह कभी उस सम्प्रदाय की खोज में नहीं रहे जो अन्य धार्मिक विचारों को बाहर कर देने का प्रयास करते थे। वह एडवर्ड मायटलैंड के एसोटेरिक ईसाई यूनियन (अन्तरंग ईसाई संघ) से अपने जुड़ाव के कारण ईसाइयत के बहुत नजदीक आ गये। मायटलैंड ने अपने दो प्रकाशनों 'दी परफेक्ट वे' (पूर्ण मार्ग) और 'दी न्यू इंटरप्रेटेशन ऑफ दी बाइबिल' (बाइबिल की नयी व्याख्या) को गांधी के पास भेजा। 'पूर्ण मार्ग' का उपशीर्षक 'ईसा का मन्तव्य' तीन स्थितियों को स्थापित करने का प्रयास करता था। पहली, यह कि ईसाइयत के धर्म सिद्धान्त और प्रतीक अन्य और प्राचीन धार्मिक प्रथाओं के सिद्धान्त और प्रतीक के समान ही हैं। दूसरी, यह कि धार्मिक आस्था का उचित तल वहाँ नहीं होता है जहाँ कि चर्च ने इसे जगह दी थी– अर्थात ऐतिहासिक परम्परा की समाधि में नहीं होता है बल्कि मनुष्य के मन और हृदय में होता है। तीसरी, यह कि इस तरह सम्मानित और सुव्याख्यायित ईसाई धर्मसिद्धान्त मनुष्य के

आध्यात्मिक इतिहास के तथ्यों को वैज्ञानिक यथार्थता के साथ प्रस्तुत करता है...''[2]

गांधी को वह पुस्तक इतनी पसन्द आयी कि उन्होंने निम्नलिखित शीर्षक के साथ डरबन न्यूजपेपर में एक विज्ञापन दे दिया;

मो.क. गांधी

अभिकर्ता, अन्तरंग ईसाई संघ और शाकाहार समाज

उक्त विज्ञापन के साथ उन्होंने सम्पादक को एक पत्र लिखा जिसमें लिखा था :

''मैं जिन तथ्यों को विचारार्थ निवेदित कर रहा हूँ, ये सभी उन भौतिकवादी प्रवृत्तियों से वापसी के स्पष्ट संकेत हैं, इससे न केवल ईसा के निर्मल अन्तरंग उपदेशों के प्रति बल्कि बुद्ध, जरथ्रुष्ट और मुहम्मद के उपदेशों के प्रति भी हमें अत्यन्त निर्दयतापूर्ण ढंग से स्वार्थी बना दिया है। ये ऐसे पैगम्बर हैं जिनका सामान्यतया यह शिष्ट दुनिया गलत पैगम्बरों के रूप में भर्त्सना नहीं करती है। ईसा और उक्त अन्य पैगम्बरों के उपदेश एक-दूसरे के पूरक हैं, इसकी जानकारी दिया जाना शुरू हो रहा है।''[3]

अन्तरंग ईसाई संघ ने गांधी से अपील की, क्योंकि यह उसी चीज को प्राप्त करने का प्रयास कर रहा था जिसके लिए गांधी भी प्रयासरत थे अर्थात अनेक धर्मों के सामान्य नैतिक उपदेशों को प्राप्त करने का प्रयास। धर्म की बाबत उनका विचार अपवर्जक होने की बजाय अभिवर्तक था। धार्मिक सिद्धान्तों का अतीत के पृथक्कृत समुदायों में विकास हो चुका था तथा उनका निर्माण स्थानीय विशेषताओं से हुआ था। इसने उन्हें विभिन्न सांस्कृतिक परिवेश से आने वाले विचारों के लिए अभेद्य बना दिया। ये धार्मिक सिद्धान्त एक ऐसे युग के लिए अनुपयुक्त थे जहाँ अनेक समुदाय उस अतीत की दुनिया से बिल्कुल भिन्न दुनिया में रहते थे और परस्पर एक-दूसरे पर प्रभाव डालते थे। प्राचीन काल में भी लोगों के वृहत्तर क्षेत्र की तरफ बहिष्कार वृत्ति से संग्रहणशीलता में क्रमिक परिवर्तन ध्यानाकर्षी था। यहूदी धर्म केवल यहूदियों तक ही सीमित था। ईसाइयत ने एक कदम आगे बढ़कर यहूदियों और मूर्तिपूजकों को भी गले लगाने का प्रयास किया। लेकिन, इसके धर्म सिद्धान्त की प्रवृत्ति ईश्वरीय कृपा से गैर-ईसाइयों को बाहर करने की थी। साथ ही, ईसाइयत सदियों तक, अत्यन्त साम्प्रदायिक, असहिष्णु और हिंस्र बनी रही।

लेकिन, इसका यह चरित्र अपने मौलिक उपदेशों के ठीक विपरीत था। गांधी के लिए ईसा के मूल उपदेश बहुत प्रेरणादायक थे। लेकिन, जिस संस्थागत ईसाइयत को इस मूल उपदेश की जगह स्कॉलेस्टिक दर्शन के रूप में प्रस्थापित किया गया था, वह गांधी को काफी संकीर्ण और कच्चा लगा था। ऐसा बौद्ध और उपनिषद के महान दार्शनिक साहित्य से परिचित किसी भी भारतीय को लगा होता। लुईस फिशर गांधी के साथ हुई अपनी एक वार्ता का जिक्र करते हैं। उक्त वार्ता से यह बात साफ हो जाती है कि आखिर गांधी क्यों ईसा के उपदेश और प्रचलित ईसाई विश्वास के बीच अन्तर करने के लिए इतना उत्सुक थे। उन्होंने लिखा है :

"मैं जब 1946 ई. में गांधी के साथ ठहरा था तो उन्होंने अपने इस विचार पर थोड़ा प्रकाश डाला था। उन्होंने बतलाया कि पॉस एक यूनानी थे, यहूदी नहीं थे। उनमें वक्तृता विषयक प्रतिभा थी, एक द्वन्द्वात्मक विचार था और ईसा का उन्होंने गलत वर्णन किया था। ईसा में एक महान शक्ति थी, प्रेम की शक्ति। लेकिन, ईसाइयत जब पश्चिम की तरफ गयी तो इसका रूप विकृत हो गया। वहाँ यह राजाओं का धर्म बन गया।"[3]

अन्तिम वाक्य में वह एक बड़े ऐतिहासिक सत्य का पर्दाफाश करते हैं जिसकी अनदेखी ईसाई और गैर-ईसाई समान रूप से करते आ रहे थे। रोमन साम्राज्य में ईसाइयत अईसाई कारण से कॉन्सटेंटाईन के धर्म-परिवर्तन के जरिये एक राज्यधर्म बन गयी। कॉन्सटेंटाइन जब विजय अभियान पर था तो उसके पास एक सपना था कि वह जो युद्ध लड़ने जा रहा है उसमें उसकी विजय होगी, यदि वह क्रॉस को अपना झंडा बना ले। उसने उसी अनुसार कार्य किया और विजय हासिल की। इस घटना ने उसे ईसाइयत के उस गुण का कायल बना दिया। लेकिन, वह एक सूर्योपासक था और तुरन्त अपने पहले वाले भगवान को नहीं छोड़ पाया। अत: कुछ समय तक एक सहराज्य चलता रहा, क्योंकि उसके सिक्कों पर एक तरफ सूर्य और दूसरी तरफक्रॉस अंकित था। आगे चलकर उस सम्राट ने अपनी पूरी निष्ठा ईसा के प्रति समर्पित कर दी। रक्त का वह मूल धब्बा यूरोपीय ईसाइयत के सम्पूर्ण विकास को बदरंग करता रहा।

1927 ई. में कोलम्बो में वाई.एम.सी.ए. का सम्मेलन हुआ। उक्त सम्मेलन को संबोधित करते हुए गांधी ने अपनी स्थिति पूरी तरह से स्पष्ट कर दी। गांधी

ने कहा, 'यदि उस समय मुझे केवल 'सरमन ऑन दी माउंट' का सामना पड़ा, तो इसकी मेरी अपनी व्याख्या है। मुझे यह कहने में हिचक नहीं है कि – हाँ, मैं एक ईसाई हूँ।... लेकिन, नकारात्मक रूप से मैं आपसे कह सकता हूँ कि ईसाइयत के बारे में जो कहा जाता है, उसमें ज्यादातर 'सरमन ऑन दी माउंट' का नकार है। कृपया मेरे शब्दों को चिह्नित करें। वर्तमान समय में मैं ईसाई चरित्र के बारे में नहीं बोल रहा हूँ। मैं ईसाइयत के उस ईसाई विश्वास के बारे में बोल रहा हूँ जो पश्चिम में प्रचलित है।'"[4]

गांधी मलबे को अलग करने वाले ईसा के आवश्यक सन्देश के केन्द्रक को भेदने का प्रयास कर रहे थे। यही एकमात्र रास्ता था जिसमें यह शाश्वत नैतिक संहिता के अंश का निर्माण कर सकता था।

बिशप कॉलेज, कोलकाता के व्याख्याता और सीरियाई ईसाई एस.के .जॉर्ज ने अपनी पुस्तक 'गांधीज चैलेंज टू क्रिश्चियनिटी' में यह तर्क दिया, ईसाइयत में दूसरे धर्मों के आदर्शों एवं विश्वासों के प्रति अपने रुझान में पुनर्विचार करने की जरूरत है, तथा मैं दूसरे विश्वासों तक विनम्रता के साथ पहुँच बनाने वाली ईसाइयत को पसन्द करता हूँ। एस.के .जॉर्ज को गैर-ईसाई गांधी के विचार से सहमति जताने और अपनी व्याकुलता को स्पष्टत: स्वीकार करने के लिए गिरजाघर प्राधिकार का कोपभाजन बनना पड़ा। लेकिन, इससे यह भी जाहिर हुआ कि परिवर्तन की हवा अब बहने वाली है। भक्त ईसाइयों के बीच स्वाभाविक रूप से गांधी जी ने उन अनेक लोगों को परिवर्तन के लिए तैयार कर लिया जो यह समझते थे कि गांधी के विचार ही ईसाई जीवन के काफी नजदीक हैं। मॉर्टिन लूथर किंग सरीखे उनमें से कुछ लोग गांधीवादी विचारों के साथ चलने वाले महान आन्दोलनों के नेता बन गये।

गांधी ने अपनी सार्वभौमिकता को दुहराते हुए 1930 ई. में अपने आश्रम के सहवासियों के मार्ग निर्देशन हेतु यरवदा जेल से लिखे जाने वाले अपने साप्ताहिक पत्रों में से एक पत्र में लिखा :

"सभी तरह आस्थाएँ सत्य के प्रकटीकरण की रचना करती हैं। लेकिन, सभी अपूर्ण हैं और इनमें गलती करने की गुंजाइश है। दूसरे की आस्थाओं के सम्मान का मतलब यह नहीं है कि हम उनकी गलतियों पर ध्यान नहीं दें। हमें अपनी आस्था की त्रुटियों के प्रति सजग रहने की जरूरत है। हमें इसे उसी तरह से नहीं छोड़ देना चाहिए, बल्कि उन त्रुटियों को दूर करना चाहिए। सभी

धर्मों को समान नजर से देखते हुए बेझिझक हमें दूसरे धर्मों की स्वीकार्य चीजों को अपने धर्म के अन्दर लाने का प्रयास करना चाहिए। ऐसा करना हमारा कर्तव्य बनता है।''

गांधी एक हिन्दू होते हुए भी प्राय: एक ईसाई, एक मुसलमान और एक यहूदी बन जाते थे, क्योंकि उन्हें इनके मौलिक तत्त्वों में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता था।

ईसाइयत, इस्लाम और हिन्दुत्व इत्यादि सरीखे पारम्परिक धर्मों के प्रति अपने सम्मान भाव के बावजूद गांधी का सबसे ज्यादा लगाव उस नयी नैतिक संहिता के साथ था जिसे वह स्वयं एवं उनके पूर्ववर्ती और समकालीन सन्त प्रकट कर रहे थे। उनके समय में भी जब मूल्यों के महान नये रूप प्रकट हो रहे थे, इतिहास के सभी नोडल बिन्दुओं पर उन समस्याओं का निराकरण ढूँढ़ने वाली अनेक सदृश आत्मायें उसी तरीके से सक्रिय थीं। उनमें से कुछेक ने गांधी को खोज करने के लिए प्रेरित किया तथा उन्हें दूसरे की जानकारी बाद में हुई। गांधी के माध्यम से उन्होंने अपने विचारों की एक स्पष्ट अभिव्यक्ति प्राप्त की। गांधी के अनुसार, धर्म का सार मानवता की सेवा में तथा समाज से अन्याय और पीड़ा के निर्मूलन में निहित होता है। इस दृष्टिकोण से पुराने धर्म सबसे बढ़िया मार्गपट्ट हो सकते थे। कार्य करने का ठोस रूप समकालीन जीवन में एक व्यक्ति जिन नानाविध समस्याओं का सामना करता है, उसमें अर्थात एक औद्योगिक समाज की वास्तविक जीवन-स्थिति में प्रकट किया जाना था। उस स्थिति में संक्षेपण मानवीय कार्यों में वाणिज्य की सर्वोच्च शक्ति इसकी विद्यालय आचार संहिता के द्वारा किया जाता है। यही नयी नैतिकता बन गयी है। जैसा कि हम पूर्व में देख चुके हैं, यह धर्म के सभी पिछले सिद्धान्तों के विरुद्ध हो जाता है। स्वाभाविक रूप से, गांधी का जब पहली बार रस्किन के 'अन टू दि लास्ट' से परिचय हुआ, वह उसी वक्त उससे मोहित हो गये थे। यह पुस्तक इस नयी नैतिकता की एक समीक्षा थी। गांधी को इस पुस्तक में कुछ वैसी चीज मिल गयी जिसकी वह अचेतन रूप से यूरोपीय सभ्यता के सम्पर्क में आने के समय से ही तलाश कर रहे थे। वह अपनी आत्मकथा में रस्किन की इस पुस्तक का अपने ऊपर पड़े प्रभाव को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त करते हैं :

''मैंने एक बार इस पुस्तक को पढ़ना शुरू किया तो इसे बीच में छोड़

पाना असम्भव हो गया। इसने मुझे अपनी गिरफ्त में ले लिया। जोहांसबर्ग से डरबन की यात्रा चौबीस घंटों की थी। गाड़ी वहाँ शाम में पहुँची। मैं उस रात सो नहीं पाया। इस पुस्तक के आदर्शों के अनुसार मैंने अपने जीवन को बदलने का संकल्प ले लिया।''

गांधी के अनुसार उस पुस्तक के निम्नलिखित मौलिक सिद्धान्त थे :

1. यह कि, व्यक्ति का भला सबके भले में निहित होता है।

2. यह कि, वकील और नाई के काम का मूल्य समान है। सभी को अपने काम से जीविका कमाने का अधिकार है।

3. यह कि, श्रमिक का जीवन ही एक ऐसा जीवन है जो जीने योग्य है।

''इनमें से पहले वाले को मैं जानता था। दूसरे वाले का मैं अस्पष्ट रूप से अहसास कर चुका था। तीसरे वाले से मैं अनभिज्ञ था। लेकिन, 'अन टू दि लास्ट' ने यह साफ कर दी कि दूसरा और तीसरा, पहले वाले में ही निहित हैं। मैं भोर में जगा और इन सिद्धान्तों को व्यवहार में ढालने के लिए तैयार हो गया।''

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पूँजीवादी व्यवस्था की काफी समीक्षाएँ हो रही थीं। इसी दौरान समाजवादी आन्दोलन का विकास भी हो रहा था। इसी सदी के साठ के दशक से मार्क्स अपना विशद ग्रन्थ 'दास कैपिटल' लिखने में व्यस्त थे। यद्यपि पूँजीवाद की अधिकांश समाजवादी समीक्षाओं में एक नैतिक दृष्टिकोण अन्तर्निहित था, ऐसी सभी समीक्षाओं का रुझान वैज्ञानिक था अर्थात वे विश्लेषणात्मक रूप से यह दिखाने का प्रयास कर रहे थे कि पूँजीवाद में इसके अन्त का बीज मौजूद है। कुछ लोगों की मान्यता थी कि पूँजीवाद अत्योत्पादन के संकट से दम तोड़ देगा, तो कुछ लोग इस विचार के थे कि लाभ की पतनशील दर से यह कयामत आ जाएगी। तथापि, कुछ ऐसे लोग भी थे जो सोचते थे कि उत्पादन के पूँजीवादी तरीके में जन्मजात अयोग्यता और अशान्ति है जो पूँजीवादी व्यवस्था के लिए खतरनाक साबित होगी। प्राय: उपर्युक्त विचारों में एक से अधिक को उन्हीं सिद्धान्तकारों द्वारा स्थापित किया गया। लेकिन, बहुत कम लोगों ने इस उत्पादन की प्रथा के पीछे के उद्देश्य के नीति-सिद्धान्त पर सवाल उठाया। लाभोद्देश्य या भौतिक प्राप्ति का उद्देश्य आर्थिक आलोचकों द्वारा न केवल प्राकृतिक समझा गया बल्कि अनुकूल भी माना गया। मार्क्सवादियों द्वारा यह समझा गया, मसलन

यह कि इसी उद्देश्य से धन और गरीबी के बीच बहुत ज्यादा ध्रुवीकरण हो जाएगा और यह पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने हेतु गरीब मजदूरों को संगठित होने के लिए बाध्य कर देगा और इस तरह से समाजवाद की स्थापना होगी। ये सवाल कभी नहीं किये गये : (1) क्या सम्पत्ति का सामाजिक स्वामित्व लागू हो जाने के बाद भी वैसी ही संग्रहवृत्ति से प्रेरित मजदूर समाज और दूसरे लोगों के साथ धोखा देना शुरू कर देंगे? (2) मार्क्स ने जिस परायेपन की समस्या के बारे में इतना प्रभावशाली ढंग से लिखा, बड़े उद्योगों में मजदूर परायेपन की इस समस्या का समाधान कैसे करेंगे क्योंकि यह समस्या बड़े आधुनिक उद्योगों की संरचना में स्वाभाविक है? (3) आधुनिक उद्योगों से प्रदूषण फैलता है, औद्योगिक समाज इस प्रदूषण की समस्या का समाधान कैसे करेगा? क्या होगा, यदि पूँजीवादी व्यवस्था किसी तरह अपने संकटों का प्रबन्ध करना जान पाती है तथा आन्दोलनकारी विप्लवों की रोकथाम करने के उद्देश्य से मजदूरों को बर्दाश्त करने लायक जीवनावस्थाएँ मुहैया कराना भी सीख जाती हैं? अथवा, यह सवाल भी कि क्या होगा, यदि पूँजीवादी व्यवस्था समाज के एक बड़े भाग की अत्यन्त वंचना की अवस्थाओं के तहत भी समाज पर अपनी पकड़ बनाने का प्रबन्ध कर लेती है?

इन सिद्धान्तकारों का इस व्यवस्था की तर्कशक्ति से सरोकार था, न कि इसके नीति-नियम से। यदि इसने जीवित रहने की अपनी क्षमता को साबित किया तो यह इस व्यवस्था का अपना औचित्य था। इसके कारण अनेक लोगों ने तकनीकी निश्चयवाद को स्वीकार किया जो इस व्यवस्था के अपरिहार्य अंग के रूप में अपने अनौचित्य को उचित ठहराते हुए विशेष तकनीक का सम्बन्ध नैतिक अभिवृत्ति से जोड़ते हैं। यद्यपि रस्किन उम्र में मार्क्स से काफी बड़े थे, मार्क्स जिस समय अपने ग्रन्थ पर काम कर रहे थे, ठीक उसी समय इस व्यवस्था से सम्बन्धित रस्किन की समीक्षा प्रकाशित हुई। मार्क्स और अन्य समाजवादी विचारक जो इस व्यवस्था की नैतिक समीक्षा का मजाक उड़ाते थे, इनके विपरीत रस्किन ने ऐसी नैतिक समीक्षा को समुचित ढंग से अंगीकार किया।

सभी विज्ञानों की भाँति राजनीतिक अर्थव्यवस्था भी नैतिक रूप से तटस्थ होने का दावा करती है। यह समाज पर आर्थिक सिद्धान्त के प्रभावों या आर्थिक नायकों के प्रयोजनों से सरोकार बनाने के लिए अपनी किसी तरह की जिम्मेवारी के दावे से बाज आती है। तथापि, मनुष्य जब आर्थिक गतिविधियों

में व्यस्त रहता है तो यह उसके निश्चित प्रयोजन को मान लेती है। इस तरह के प्रयोजनों के बगैर कोई भी आर्थिक गतिविधि सम्भव नहीं होती। प्राथमिक रूप से, यह एक ऐसा प्रयोजन है जो व्यक्ति को धन की इच्छा करने तथा धनसंग्रह करने के लिए प्रेरित करता है। अर्थशास्त्रियों के लिए यह 'आर्थिक मनुष्य' का एक सामान्य (और जायज भी) प्रयोजन है। मार्क्स के अनुसार, यह प्रयोजन भी एक ऐतिहासिक उत्पाद ही था और मनुष्य इससे बच नहीं सकता है। हालाँकि, रस्किन इस प्रयोजन पर प्रहार करते हैं क्योंकि यह मानव प्राणियों के योग्य नहीं है। गांधी की व्याख्या में यथाउद्धृत रस्किन कहते हैं :

''इतिहास में कुछ भी माननीय बौद्धिकता के लिए इतना अपमानजनक नहीं रहा है जितना कि एक विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों की हमारे बीच स्वीकृति है। मुझे अपने स्वीकृत धर्म के प्रथम सिद्धान्त की क्रमबद्ध अवज्ञा स्थापित करने वाले राष्ट्रों के इतिहास का कोई दृष्टान्त मालूम नहीं है।

''वे लेखन जिन्हें हम (मौखिक रूप से) धर्म तत्त्वज्ञ के रूप में सम्मान देते हैं, न केवल सभी बुराइयों के स्रोत के कारण मुद्रा प्रेम की भर्त्सना करते हैं बल्कि धनदेवता की सेवा को ईश्वर की सेवा के विपरीत उचित और कट्टर भी घोषित करते हैं; तथा जब कभी वे यह कहते हैं कि धन परम और गरीबी परम, तो वे धनी के लिए दुःख और गरीब के लिए आशीर्वचन की घोषणा करते हैं।

''सच्चा अर्थशास्त्र न्याय का अर्थशास्त्र होता है।''

वह पुन: आर्थिक गतिविधियों की नैतिक उदासीनता के सिद्धान्त पर प्रहार करते हैं और लिखते हैं :

''इसलिए न केवल लाभ बल्कि राष्ट्रीय सम्पत्ति के गुण का भी सम्मान करने का प्रश्न स्वयं अन्तत: एक मूर्त न्याय में बदल जाता है। अर्जित सम्पत्ति का वास्तविक मूल्य इससे जुड़े नैतिक संकेत पर निर्भर करता है। यह जुड़ाव ठीक उसी तरह का होता है जैसे कोई गणितीय परिमाण स्वयं से जुड़े बीजगणितीय संकेत पर निर्भर करता है। व्यावसायिक सम्पत्ति का कोई भी संचय एक तरफ, विश्वासपात्रों उद्योगों, प्रगतिशील कार्यशक्तियों और उत्पादक विदग्धताओं का सूचक हो सकता है : अथवा दूसरी तरफ, यह नैतिक विलासिता, निर्दयी तानाशाही, विनाशकारी चालाकी का सूचक हो सकता है।''

वह एक दूसरे स्थान पर बुद्धिमान प्राचीन यहूदी के इस कथन को उद्धृत करते हैं, 'झूठी जुबान से धन की प्राप्ति उनमें से इधर-उधर उछाला गया एक मिथ्याभिमान है जिसे मौत की तलाश रहती है।' और 'पाप का धन कोई लाभ नहीं देता है : लेकिन सत्य मौत से उबारता है।' और टिप्पणी करते हैं : "ये दोनों परिच्छेद सम्पत्ति की किसी अन्याय योजना की प्राप्ति के केवल निष्कर्ष और यथार्थ विषय के रूप में मौत के दावों के लिए उल्लेखनीय है। यदि 'झूठी जुबान' के बदले हम 'झूठा लेबल' शीर्षक, बहाना या विज्ञापन' पढ़ें तो आधुनिक व्यापार पर इन शब्दों के व्यवहार को ज्यादा स्पष्ट ढंग से समझेंगे।"

और अन्तिम अध्याय में वह लिखते हैं :

"श्रम शब्द के वास्तविक अर्थ में वह है जो लाभदायक सामग्रियों का उत्पादन करता है। लाभदायक सामग्रियाँ वे हैं जो मानवीय जीवन का समर्थन करती हैं जैसे– भोजन, वस्त्र या आवास और मनुष्य को अपने जीवन के कार्यों को हद तक पूरा करने लायक तथा दूसरों के जीवन पर एक मददगार प्रभाव आजमाने के भी योग्य बनाती हैं। अमीर बनने के उद्देश्य से बड़े कारखानों की स्थापना व्यक्ति को पाप में डुबा सकती है... संचित धन का जिससे राष्ट्र के ध्वंस का मार्ग प्रशस्त होता है, किसी सांसारिक काम के नहीं होता है। आधुनिक समय के पूँजीपति उन व्यापक और अन्यायपूर्ण युद्धों के लिए जिम्मेवार हैं जो मनुष्य जाति की लिप्सा से उत्पन्न होते हैं।"

गांधी को रस्किन के विचारों के आलोक में अपने निष्कर्ष में अन्य चीजों के साथ यह कहना है :

"यह स्वराज्य अँग्रेजों की हत्या करने के पाप से प्राप्त नहीं हो सकता है तो यह बड़े-बड़े कारखानों को खड़ा होने से भी प्राप्त नहीं हो सकता है। सोने और चाँदी जमा किये जा सकते हैं, लेकिन स्वराज की स्थापना नहीं होगी। रस्किन ने इसे पूर्णतया साबित कर दिया है। पश्चिमी सभ्यता महज सौ या पचास साल की बच्ची है। तथापि, इसने यूरोप को एक खेदजनक स्थिति तक पहुँचा दिया है। हमें प्रार्थना करनी चाहिए कि भारत अभी तक उस स्थिति से बचा हुआ है जिसने यूरोप को पूरी तरह से ग्रस लिया है। वहाँ के राष्ट्र हमेशा एक-दूसरे पर आक्रमण करने के लिए तैयार रहते हैं और शान्त तभी होते हैं जब अस्त्र संग्रह कर रहे होते हैं। किसी दिन एक विस्फोट होगा और उसके बाद यूरोप धरती का वास्तविक नरक बन जाएगा। अश्वेत लोगों को प्रत्येक

यूरोपीय राज्य एक वैध शिकार के रूप में देखता है। हम और क्या आशा कर सकते हैं जहाँ मनुष्यों के हृदय में लिप्सा ही प्रबल मनोभाव हो? यूरोपवासी नये भूक्षेत्रों पर ऐसे झपटते हैं जैसे कौए मांस के टुकड़ों पर झपट्टा मारते हैं। मैं यह सोचने के लिए विवश हूँ कि ऐसा उनके विशाल उत्पादन करने वाले कारखानों के कारण होता है।"

सामाजिक सिद्धान्तकारों के बीच जब नैतिक विषय एक तरह का कलंक अर्जित कर चुका था, ठीक उसी समय नैतिक विषय की प्रभाविता के इस आग्रह को महान दृष्टि और साहस की आवश्यकता थी। यह केवल अभी का समय है जब एक सदी पहले के क्रान्तिकारी सामाजिक विचारकों द्वारा समर्थित अधिकांश सुधारों को व्यवहार में लाया जा रहा है। इससे हमें अहसास होता है कि सुदृढ़ नैतिक प्रबिद्धता की स्थापना के बगैर नयी सामाजिक व्यवस्था पारद पर बनायी गयी व्यवस्था प्रतीत होती। यदि हम चीन और सोवियत संघ की सामाजिक प्रथाओं को देखें तो हमें वह चीज दिखाई देती है। इन दोनों देशों ने उत्पादन के साधन में निजी सम्पत्ति को लगभग छोड़ दिया है और समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार समाज का निर्माण करने का प्रयास किया है। इन दोनों देशों में उत्पादन के साधन के लोक स्वामित्व के ढाँचे के अन्दर निजी सम्पत्ति बनाने एवं विलासिता की वस्तुओं का संग्रह करने के लिए छीना-झपटी होती है। राज्य की सम्पत्ति के साथ छल करने के अपराध हेतु सख्त दंड, जिसमें मृत्युदंड तक शामिल है, के बावजूद इस तरह के अपराध वृहत पैमाने पर होते हैं। इन देशों में भी लोग उसी तरह के कष्ट सहते हैं जिस तरह से अन्य औद्योगिक समाजों में सहते हैं। अल्कोहल और मनोरोग चिकित्सकों की माँग इन समाजों में भी उसी तरह अधिक है जितनी और कहीं। मित्रभाव और सहयोग की जगह भौतिक लाभ और उपभोक्तावाद ने ले ली है– जो कुछ नहीं, बल्कि यह दिखाने का प्रयास है कि सम्पत्ति के मामले में व्यक्ति अपने साथी मानव प्राणियों से ऊपर रहता है।

समाजवादी विचारकों ने यह दृष्टि दी कि मनुष्य की अर्जनशीलता या अग्रघर्षण उस समाज की प्रकृति से प्रतिफलित होता है जिसके अन्दर वह रहता है। और एक बार वह सामाजिक व्यवस्था बदल जाती है तो मनुष्य भी नयी सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप होते हुए बदल जाता है। यह सोचा गया कि निजी सम्पत्ति के सफाये के साथ लिप्सा की सम्भावना का भी सफाया हो

जाएगा, क्योंकि इससे न केवल लिप्सा को प्रोत्साहन मिलना बन्द हो जाएगा बल्कि लिप्सा का विचार भी मर जाएगा। लेकिन, सही में जिस तरह की स्थिति बनी है, इससे मालूम पड़ता है कि इस तरह के समाज का निर्माण करने के लिए भी जनता का एक समूह होना जरूरी है या एक तानाशाह का होना जरूरी है जो 'मनचाही' दिशा में समाज को आकार देता है। इस इच्छित या मनचाही दिशा का निर्धारण निश्चित नैतिक सिद्धान्तों द्वारा होना जरूरी है। इस तरह के मार्गदर्शक सिद्धान्त के बगैर आन्दोलन पतवारविहीन हो जाएगा और उसमें दिशाबोध की कमी रहेगी। माओ के जेहन में जब सांस्कृतिक क्रान्ति का विचार आया तो वह मूलत: नैतिक सुधार के आधार को ही अपना रहा था। सबके बावजूद पैगम्बर और नैतिकतावादी यह काम उचित ढंग से पूरे इतिहास में करते रहे हैं : और उनका प्रयास रहा है कि लोगों के विश्वासों और मनोभावों क ो एक निश्चित दिशा में तब्दील किया जाए।

सत्य यह है कि समाजवादी आन्दोलन बाहर से ईसाइयत को स्वीकार किये बगैर ईसाइयत के मौलिक नैतिक मनोभाव को भीतर से अपना चुका था। यह नैतिक मनोभाव ही है जिसने उन्हें शोषण की प्रत्येक प्रथा की मूलभूत समीक्षा मुहैय्या करायी। इस नैतिक दृष्टिकोण के बगैर कोई भी सहज रूप में शोषण को मानवीय सम्बन्ध के एक जायज तरीके के तौर पर स्वीकार करता। शोषण स्वयं एक बोझिल शब्द है। इसमें शोषकों की भर्त्सना भी अन्तर्निहित होती है। समता व बन्धुत्व का सिद्धान्त ईसाइयत से लिया गया था और इसे नीत्शे ने भी माना, जबकि नीत्शे ने इसकी दास नैतिकता कहकर भर्त्सना की थी। वस्तुत: मध्ययुग से ही यूरोप एक विरोधाभासी स्थिति में रहता आ रहा है जहाँ ईसाई गिरजाघर ने असमानता को नजरअन्दाज कर दिया तथा 14वीं सदी से शुरू होने वाले कृषक आन्दोलन प्रेरणा हेतु बाइबिल की तरफ मुड़ गये। 19वीं सदी में स्थिति और अधिक विरोधाभासी हो गयी। समानता के अधिकांश बड़े पैरोकार नास्तिक थे तथा कुल मिलाकर गिरजाघर (चर्च) सामाजिक सम्बन्धों की गैर-बराबरी का बचाव करता था।

सचमुच, इतिहास के कारकों एवं इतिहास को दिशा देने वाली मनुष्य की क्षमता से मनुष्य की मुक्ति जो मार्क्स के लिए मुख्य अभीष्ट थी, का सहज रूप से अहसास नहीं हो सकता है। इसका अहसास केवल एक परिवर्तित नैतिक मनोभाव से ही हो सकता है। इतिहास के इस समूचे चक्र में या यूँ कहें,

इतिहास के इस सर्पिल रास्ते में साथी मनुष्य प्राणियों पर प्रभुत्व कायम रखने, विद्रोहों के माध्यम से एक प्रथा को खत्म कर उसकी जगह एक दूसरी प्रथा को कायम करने तथा वहीं शोषण और प्रभुत्व की कहानियों का दुहराव भरा हुआ है। मार्क्स का मानना था कि साम्यवाद से इन सभी चीजों की समाप्ति हो जाएगी तथा इसके बाद मनुष्य इतिहास के नियमों के वश में होगा। लेकिन, अब हम जानते हैं कि जो अन्धतत्त्व इतिहास की रचना करते हैं, वे मनुष्यों के अपने अनियन्त्रित आवेश के सिवाय और कुछ नहीं हैं और ये ही चीजें मनुष्यों को मनुष्यों के विरुद्ध ला देती हैं और सामाजिक संघर्षों को पैदा करती हैं जो इतिहास के मार्ग रूप में प्रजनित हैं। भौतिक कारकों से केवल उन अवस्थाओं का निर्धारण होता है जिनके अन्तर्गत मनुष्यों के अन्तर्विशिष्ट संघर्ष की शुरूआत होती है तथा वह रूप जिसमें मनुष्यों का एक समूह दूसरे समूह की पीठ पर सवार होता है, प्रकट होता है। मनुष्य वास्तव में इतिहास की रचना करने वाले तथा इतिहास को दिशा देने वाले कारण और प्रभाव की इस धारा से आवेशों पर आत्मनियन्त्रण कर बाहर निकल सकता है क्योंकि ये आवेश ही उसे इस धारा में लाते हैं। गांधी ने रस्किन से जो चीज ढूँढ़ निकाली, वह यही चीज थी। यह सामाजिक संघर्ष के रास्ते से हट जाने की कुंजी थी।

लेकिन, रस्किन के माध्यम से गांधी ने अन्य समस्याओं की जड़ों का भी अनुसन्धान किया जो आगे चलकर औद्योगिक समाज को शैतान बनाने वाली थीं। 19वीं सदी के अन्त और 20वीं सदी के प्रारम्भ के दशकों में यूरोप समूची दुनिया के साथ औद्योगिक और व्यावसायिक गतिविधियों के अपूर्व प्रसार का अनुभव कर रहा था। विकास की सम्भावना सीमित जान पड़ रही थी। इसलिए, अर्थशास्त्र अनिवार्य रूप से विकास का अर्थशास्त्र बन गया। पूँजी और श्रम उत्पादन को केवल सीमित करने वाले कारक थे और इन दोनों का फैलाव किया जाने लगा। अत्योत्पादन का सामयिक संकट ही एकमात्र पीड़ा थी जो इस आशावादी तस्वीर को धुँधली कर रही थी और सदियों तक इसने अर्थशास्त्रियों के तौर पर लिया गया और इसके जो उपचार बताये गये उनमें पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति से लेकर माँग का प्रसार तक शामिल था। लेकिन यह बात किसी के दिमाग में नहीं आयी कि धरती कोई अक्षयपात्र नहीं है जिससे भंडार के खत्म होने का भय किये बिना बेपरवाह ढंग से चीजों को निकालते रहा जाए। अर्थशास्त्री ई.एम. शुमाकर ने 1950 के दशक में पारम्परिक खनिज

और ईंधन से प्राप्त होने वाली ऊर्जा की सम्भाव्य समाप्ति की तरफ इशारा किया तथा आगे अपनी पुस्तक 'स्मॉल इज ब्यूटीफुल' में कुटीर तकनीक पर आधारित एक वैकल्पिक आर्थिक संगठन की रूपरेखा प्रस्तुत की। लेकिन, संसार-भर के तेल कुएँ जिन पर पश्चिम का आधिपत्य था – ईंधन की नियमित और पर्याप्त आपूर्ति करते हुए इस तरह के निराशावाद के प्रति घृणास्पद मनोभाव को प्रोत्साहित करने लगे। क्लब ऑफ रोम ने भी विकास की सम्भावनाओं की एक धुँधली तस्वीर प्रस्तुत की; लेकिन गम्भीर आर्थिक लेखकों ने इसका भी मजाक उड़ाया। 1974 ई. में यह पहली बार देखा गया कि पेट्रोलियम की कीमत में अत्यधिक वृद्धि हो गयी और औद्योगिक राष्ट्र, वास्तव में, तभी से भविष्य की ऊर्जा-आपूर्ति की समस्या को लेकर चिन्तित रहने लगे हैं। यद्यपि अभिलाषी सोच के कारण औद्योगिक दुनिया अभी भी इस बात से इनकार कर रही है कि धरती के भौतिक संसाधन सच में औद्योगिक विकास के सीमाकारी कारक हो सकते हैं, गम्भीर अर्थशास्त्रियों में भी वर्तमान किस्म की औद्योगिक सभ्यता के भविष्य की बाबत चिन्ता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। पर्यावरण की समस्या के बारे में बढ़ती जागरूकता और ऊर्जा संरक्षण के प्रयास इसके एक स्पष्ट संकेत हैं।

यह प्रश्न हो सकता है, कैसे ये सब अर्थशास्त्र के बारे में गांधी या रस्किन के नैतिक सोच में सम्बद्ध हो गये? यदि हम 'उपयोगी वस्तुओं' के बारे में पहले से उद्धृत रस्किन के विचार को समझ जाएँ तो यह सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। ये वस्तुएँ हैं, रोटी, कपड़ा और मकान और वे चीजें जो एक व्यक्ति को अपना निजी जीवन पूरा करने तथा दूसरों के जीवन पर एक मददगार प्रभाव बनाने में मदद करती हैं। इस सन्दर्भ में रस्किन की किताब के विवेचन में लिखी गयी गांधी की वह निर्णायक पंक्ति ध्यातव्य है : 'अश्वेत नस्लों को प्रत्येक यूरोपीय राज्य एक जायज शिकार के रूप में देखता है...', इसे पहले ही उद्धृत किया जा चुका है।

हम आराम से देख सकते हैं कि यह रस्किन द्वारा बताये गये बुनियादी जरूरतों को पूरा करने वाला उत्पादन नहीं है, बल्कि यह उत्पादन व्यापार के लिए है जो मनुष्य की आवश्यकताओं को बढ़ा देने के लिए जिम्मेवार है। नयी जरूरतों को विज्ञापन सरीखे उपकरणों से प्रोत्साहित किया जाता है। इसे रस्किन भी 'मिथ्याभाषी जुबान' के प्रसंग में उद्धृत करते हैं। व्यावसायिक

लाभ के लिए ही बड़े-बड़े कारखाने स्थापित होते हैं और उत्पादन को बढ़ाया जाता है, क्योंकि जितनी अधिक उत्पादों की बिक्री होगी उतना ही अधिक मुनाफा होगा या बाजार पर प्रभुत्व बढ़ेगा। इस व्यावसायिक उत्पादन की प्रकृति उस समय तेजी से दृष्टिगोचर होती है जब हम अफीम व्यापार पर विचार करते हैं। अँग्रेजों ने अपने व्यावसायिक फायदे के लिए इस जहर को भारत में बनाना शुरू किया तथा चीनवासियों के बीच इसकी बिक्री की। फलतः चीनवासी इस जहर के आदी बन गये। जब चीनी सरकार को अपने देशवासियों पर पड़ रहे इसके बुरे प्रभाव का पता चला तो इसने चीन में इसकी बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसके कारण ब्रितानियों ने 1840 के दशक की शुरुआत में चीन से युद्ध ठान दिया और अन्ततः बन्दूक की नोंक पर चीनी जनता को यह मादक द्रव्य उपलब्ध कराने लगे। शायद अफीम एक चरम उदाहरण है। इस तरह की अनेक दूसरी अनिष्टकारी, अनुपयोगी या अनावश्यक चीजें वाणिज्य-विकास के ख्याल से दुनिया के लोगों पर थोपी जा रही हैं। लेकिन, इनमें से प्रत्येक चीज को बनाने के लिए प्रकृति में उपलब्ध दूसरी चीजों की जरूरत पड़ती है और इसके उत्पादन के लिए ऊर्जा की जरूरत पड़ती है। अतएव, इसके अन्तिम परिणाम के रूप में व्यावसायिक धन्धे को जारी रखने के लिए कच्चे माल एवं ऊर्जा का स्रोत प्राप्त करने हेतु पूरी धरती का लूट-खसोट किया जाता है।

बड़े उपभोग की इस भूख को उस आशावाद के द्वारा भी पैना बना दिया गया जिसकी ऊर्जा के स्रोत के रूप में खनिज ईंधनों के उपयोग के कारण उत्पादकता में अपूर्व वृद्धि कर दी गयी। इस पर पश्चिमी दुनिया का जवाब ठीक उस व्यक्ति की तरह था जो निखात निधि पर लड़खड़ाता है एवं अचानक काफी मात्रा में बिना कमाया धन अर्जित कर इसका फिजूल खर्च करने लगता है। खनिज ईंधन लाखों वर्षों से जमा महज ऊर्जा था जो समाप्त हो जाने वाला था। निस्सन्देह, ये खनिज ईंधन उस काम से एक छोटी अवधि में हजार गुना बढ़ जा सकते हैं जिसे मनुष्य अपने निजी शारीरिक मेहनत या पशुओं के उपयोग से कर सकता है। उत्पाद न केवल मात्रा में बहुत ज्यादा थे, बल्कि सस्ते भी थे, क्योंकि ऊर्जा के स्रोत धरती पर विपुल मात्रा में छितराये हुए थे जिन्हें केवल बाहर निकालने की जरूरत थी। इन सबसे यह भ्रम पैदा हुआ कि वृद्धि उत्पादकता का यह रुझान बना रहेगा। हालिया अतीत एक अन्तहीन

भविष्य में बहिर्वेशित हो गया। बहुत कम लोगों के पास यह सोचने का समय था कि एक बार जब यह निखातनिधि समाप्त हो जाएगी तो आगे का समय कठिन हो जाएगा। केवल महान अन्त:प्रज्ञात्मक अन्तर्दृष्टि ही व्यक्ति को इस बड़े आनन्दोत्साह से बाहर कर सकती थी। बहुत कम ही लोग थे जो कम-से-कम शुरुआत में ऐसी किसी भी चेतावनी पर ध्यान देने के लिए तैयार थे।

इन व्यावसायिक गतिविधियों के पीछे एक बाध्यकारी तर्क होता है। जब तक ज्यादा-से-ज्यादा वस्तुओं का अर्जन और उपभोग तथा दूसरे व्यावसायिक प्रतिद्वन्द्वियों के साथ प्रतियोगी कटुता और ज्यादा मुनाफा भविष्य के जीवन की उपलब्धि का मानक बना रहता है, लोगों को यह तन्त्र जैसा काम करता है, उसमें कोई खामी नजर नहीं आ सकती है– चाहे मानवता के भविष्य के लिए इसका कितना भी विध्वंसक परिणाम क्यों न हो। अतएव, इस तन्त्र की केवल मनोवैज्ञानिक जड़ों पर हमला किया जा सकता है अर्थात मूल्य तन्त्र पर, जो कि लोगों को इस तरह के अर्थहीन अनुसरण में पूरा कर लेने का बोध ढूँढ़ने के लिए बाध्य करता है। उक्त जड़ ही वह उपभोक्तावादी सिद्धान्त है जिसे व्यावसायिक वर्गों ने गढ़ा है तथा लोगों में इसे सहारा देता है।

पर्यावरण सुरक्षा एक नैतिक विषय भी बन जाती है, क्योंकि वह भी मानव प्रजातियों के उत्तरजीवी उपकरण का एक हिस्सा होती है। यह एक ज्ञात तथ्य है कि अधिकांश शिकारी जानवर जब एक बार भोजन कर लेते हैं तो एक निश्चित अवधि तक शिकार करने से परहेज करते हैं। यदि वे अनाश्यक ढंग से शिकार करने लगें, तो वे शिकार जिन पर उनका जीवन निर्भर रहता है, जल्द ही खत्म हो जाएँगे और शिकार करने वाले जानवर भूखों मरने लगेंगे। इस प्राणीजगत में मनुष्य ही अकेला प्राणी है जो पौधे और जानवरों का लापरवाह ढंग से विध्वंस करने में शामिल है। सचमुच, मनुष्य ने पक्षियों, जानवरों और पौधों की अनेक प्रजातियों को विलुप्त कर दिया है। अनेक अन्य हानिकारक और विध्वंसक अभियानों के मामले में जैसा होता है, वैसा ही मनुष्य में अपनी विध्वंसक प्रवृत्तियों के विरुद्ध आनुवांशिक रूप से अन्तर्निमित निषेध नहीं होता है। यहाँ भी उसकी धार्मिक संस्कृति उसके आचरण पर एक निषेध की तरह काम करती है। इसका एक रूप वह ढिठाई का बोध है जो अनेक धर्मों में किसी क्षुधा या प्रचुरता के प्रदर्शन के अतिसेवन से जुड़ा होता है। भोजन या दूसरी आसक्तियों से ऐच्छिक परहेज जिसे कभी-कभार धार्मिक

प्रथाओं के हिस्से के रूप में लिया जाता था, एक प्रकार की पवित्रता थी। पारम्परिक धर्मों ने पर्यावरण को सुरक्षित करने के लिए एक अप्रत्यक्ष विधि को विकसित किया है। कोई भी जीवहत्या या वृक्ष कटाई परिष्कृत धार्मिक रीति-रिवाजों के अनुसार की जाती थी। निस्सन्देह, मनुष्य वृक्षों की कटाई, फसलों की कटाई, पशुओं का वध या धरती और पहाड़ों की खुदाई किये बगैर नहीं रह सकता है। लेकिन, पारम्परिक समाजों में जहाँ कहीं भी मनुष्य को इन विध्वंसक कार्यों में लिप्त होना होता है तो उनके भीतर अपनी ही तरह प्रतिशोध लेने की क्षमता रखने वाले जीवों को सचेत करने की एक हिंसक अनुभूति होती है। यह सचेतकारी विश्वास अपने-आप बेमानी विध्वंस के अनेक रूपों को अवरुद्ध करता है। मिट्टी की हल से जुताई-कोड़ाई करने के पूर्व धरती माता की पूजा होती है; वृक्षों और जानवरों को काटने के पूर्व उन्हें उस कार्य के अनुकूल बनाया जाता है। निश्चित वृक्ष और जानवर सम्मान की वस्तु बन जाते हैं और पूरे ध्यान के साथ उनकी सुरक्षा और देखभाल की जाती है। इनसे स्वत: स्फूर्ति वृक्षों और पशुओं के अनावश्यक संहार पर रोक लग जाती है। लेकिन, मनुष्य के प्राकृतिक पर्यावरण को सुरक्षित रखने का सबसे निश्चित तरीका मनुष्य की आवश्यकताओं को सीमित करना है तथा उस तरह के जीवन की रचना करना है जिसका प्रकृति से बढ़िया तालमेल हो। यही श्रेष्ठ धर्मों की आवर्ती विषयवस्तु रही है। इस सोच का मूल सिद्धान्त सांसारिक वस्तुओं को द्वितीयक महत्त्व का बना देता है जबकि आत्मा की माँगें सर्वोच्च स्थान ग्रहण कर लेती हैं। उपनिषदीय और बौद्ध उपदेश में बार-बार इस पर जोर दिया गया। इसी चीज को एक भिन्न तरीके से बहुत ही सुन्दर ढंग से बाइबिल के नवविधान में ईसा के निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया गया है:

''अतएव मैं तुमसे कहता हूँ, अपने जीवन के बारे में चिन्तित मत होओ, तुम क्या खाओगे या क्या पीओगे– इसकी चिन्ता मत करो, न ही अपने शरीर की चिन्ता करो कि क्या पहनोगे। क्या जीवन भोजन से बड़ा नहीं है? क्या शरीर वस्त्र से बड़ा नहीं है? हवा में उड़ती चिड़ियों को देखो : वे न बोते हैं, न काटते हैं, न ही खलिहान में जमा करते हैं और फिर भी ईश्वर उन्हें भोजन देता है। क्या तुम उनसे अधिक मूल्य के नहीं हो? और तुममें से कौन चिन्तित होकर अपनी आयु का थोड़ा-सा भी बढ़ा सकता है? और तुम क्यों वस्त्र के लिए चिन्तित हो? मैदान में लगे लिली के पौधे पर विचार करो, कैसे उनका

विकास है; न तो कड़ी मेहनत करते हैं; न ही तागा बनाते हैं : फिर भी मैं तुम्हें बतला सकता हूँ कि सभी तरह के गौरव से परिपूर्ण सोलोमन भी इनमें से किसी एक ही तरह सजे-धजे नहीं थे। लेकिन, यदि ईश्वर मैदान की उस घास को वस्त्र देते हैं जो आज जिन्दा है और कल चूल्हे में झोंक दी जाती है तो ओ अल्पविश्वास वाले मनुष्यों, ईश्वर क्या तुम्हें ज्यादा-से-ज्यादा वस्त्र नहीं दे सकते हैं? इसलिए, चिन्तित मत होओ : यह मत कहो कि क्या खाएँगे या क्या पीएँगे? अथवा क्या पहनेंगे? सामान्यजन इन चीजों के लिए प्रयास करते हैं; और ईश्वर जानते हैं कि तुम्हें उन चीजों की जरूरत है। लेकिन, पहले उसकी दुनिया और नीति-परायणता को ढूँढ़ो और ये सभी चीजें तुम्हारी भी हो जाएँगी।''

जीवन की बुनियादी जरूरतों से इनकार नहीं है, लेकिन इन्हें जरूरत होने पर ही प्राप्त करना है जबकि मनुष्य का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक होना है। यद्यपि ईसा और अन्य धार्मिक गुरुओं के अनुसार आध्यात्मिक लक्ष्य का अर्थ था, ईश्वर के तरीके से कार्य करना, लेकिन इसमें दर्शनशास्त्र, कला, साहित्य, संगीत, विज्ञान (संकीर्ण तकनीकी अर्थ में नहीं) वगैरह के लक्ष्य को सम्मिलित करने की एक व्यापक सम्भावना हो सकती है। इन सभी विषयों की प्रवृत्ति मनुष्य में भौतिक सम्पत्तियों के प्रति घृणा पैदा करने की होती है। गांधी ने आध्यात्मिकता को सत्य की खोज में तब्दील कर दिया। लेकिन, उनके मामले में सत्य समस्याओं की सच्चाई से सम्बन्धित किसी तार्किक का सत्य नहीं था, बल्कि इसमें अहिंसक आचरण, सजीव प्राणियों की सेवा, विनम्रता, आत्मनिग्रह, अनासक्ति और सम्यक आचरण शामिल थे। अन्ततः वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सत्य ही ईश्वर है। व्यवहार का यह खजाना स्वभावतः उन सभी मानवीय सम्बन्धों को खत्म कर दिया जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण तथा उस तरह की प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के अत्याचार जो खनिजों और अन्य प्राकृतिक उत्पादों के लिए छीना-झपटी करते हैं, पर आधारित होते हैं।

गांधी के ईश्वर के साथ सत्य के समीकरण एवं सत्य की परिभाषा में नैतिक आचरण शामिल है। इस समीकरण और परिभाषा के साथ गांधी अपने धर्मों में समर्पित नास्तिकों को भी स्थान देते हैं। गोरा नाम से प्रसिद्ध जी. रामचन्द्र राव एक समर्पित नास्तिक थे जिन्होंने अपना जीवन अस्पृश्यता के उन्मूलन में लगा दिया था। वह अपनी नास्तिकता के बावजूद गांधी के प्रभाव

में आ गये क्योंकि व्यावहारिक समाज-सुधार के मुद्दे पर उनकी नास्तिकता और आस्तिकता एक साथ मिल गयीं। गोरा ने गांधी से अपने रिश्ते के बारे में एक छोटी-सी पुस्तक 'एन एथीस्ट विद गांधी' लिखी। इसमें वह गांधी की निम्नलिखित टिप्पणियों को एक नास्तिक साथी रामास्वामी के समक्ष पुनः प्रस्तुत करते हैं :

''वह हर व्यक्ति जो सही जीवन जीना चाहता है उसे जीवन में परेशानियों का सामना करना पड़ता है। इनमें से कुछ परेशानियाँ अजेय मालूम पड़ती हैं। उस समय ईश्वर में विश्वास अर्थात केवल सत्य ही आपको थामे रख सकता है... मित्रता का भाव आपको दयनीय बना देता है, क्योंकि आपके बन्धुगण की दयनीयता ईश्वरीय होती है। आप स्वयं को नास्तिक कह सकते हैं, लेकिन जब तक आप मानव जाति के सदृश महसूस करते हैं, व्यवहार में आप ईश्वर को स्वीकार करते हैं। मुझे एक पादरी की याद आती है जो महान नास्तिक ब्राडलाफ के दाह संस्कार में आये थे। उन्होंने कहा था, वह अपनी श्रद्धांजलि देने आये हैं क्योंकि ब्राडलाफ एक ईश्वरीय व्यक्ति थे।''[5]

गोरा, एक दूसरी जगह, गांधी की उस समय की निम्नलिखित प्रतिक्रिया को पुनः प्रस्तुत करते हैं जब गोरा अपने इस विचार के प्रति दृढ़ थे कि ईश्वर में विश्वास के कारण जीवन प्रदूषित हुआ है तथा यह कि नास्तिकता सामाजिक और आर्थिक समानता के सृजन में मदद करती है :

''हाँ, तुम्हारी बातों में मुझे आदर्श नजर आता है। मैं न तो अपनी आस्तिकता को सही ठहरा सकता हूँ, न ही तुम्हारी नास्तिकता को गलत कह सकता हूँ। हम सत्य के अन्वेषक हैं। हम जब भी स्वयं को गलत देखते हैं, बदलाव कर लेते हैं। मैंने अपने जीवन में अनेक बार बदलाव किया है। मैं तुम्हें एक कार्यकर्ता के तौर पर देखता हूँ। तुम धर्मान्ध व्यक्ति नहीं हो। तुम जब भी स्वयं को गलत दिशा में देखते हो, तुम दिशा बदल ले सकते हो। जब तक तुम धर्मान्ध या जुनूनी नहीं होते हो, किसी तरह की क्षति नहीं होती है। मैं सही हूँ या तुम सही हो, यह तो परिणामों से ही साबित होगा। इसके बाद ही मैं तुम्हारे रास्ते पर चलूँगा या तुम मेरे रास्ते पर या हम दोनों एक तीसरे रास्ते पर चलेंगे। इसलिए, अपने काम में आगे बढ़ो। मैं तुम्हारी मदद करूँगा, यद्यपि तुम्हारा तरीका मेरे तरीके से विपरीत है।''[6]

उपर्युक्त शब्दों से गांधी और उनके पूर्व के पैगम्बरों के बीच का अन्तर

स्पष्ट ढंग से प्रकट होता है। गांधी एक ऐसे युग में पैदा हुए थे जिसमें सत्य का एक व्यावहारिक अर्थ हो गया था तथा सभी विचारों की जाँच जीवन पर पड़ने वाले उनके प्रभावों से होती थी। ईश्वर में आस्था के विचार को भी इसी जाँच से गुजरना पड़ता था। इस सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण फायरबाख पर मार्क्स के आठवें सिद्धान्त के काफी करीब दिखता है। इसमें मार्क्स ने कहा है : "समस्त सामाजिक जीवन अनिवार्य रूप से व्यावहारिक होता है। सभी रहस्य जो रहस्यवाद के सिद्धान्त का नेतृत्व करते हैं।" अतएव, इस सन्दर्भ में भी गांधी अपने समय की व्यापक बौद्धिक संस्कृति को आत्मसात कर चुके थे। यह आश्चर्यजनक नहीं है, गांधी ने अपनी तरफ न केवल गोरा सरीखे नास्तिक सुधारक को आकर्षित किया, बल्कि जयप्रकाश नारायण और अन्य सरीखे खाँटी मार्क्सवादियों को भी आकर्षित किया। गांधी ने ऐसी एक भाषा में बात की जो 20वीं सदी में समाज को प्रभावित करने वाली नैतिक समस्याओं से मुठभेड़ करने का प्रयास करने वाले किसी भी व्यक्ति की समझ में आ सकती थी। वह पुराने धर्मों के सार्वभौमिकतावादी मूल्यों को समाविष्ट कर रहे थे। लेकिन, साथ ही उन्हें वह एक समकालीन अर्थ और रूप भी प्रदान कर रहे थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा को भी 'द स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरिमेंट्स विद द ट्रुथ' शीर्षक दिया। यह विलक्षण रूप से सभी समस्याओं के प्रति उनके विचार को प्रतिबिम्बित करता है। यह विशेषता पैगम्बर सम्बन्धी उस उपदेश की प्रसंगाश्रितता का अंश है जो समय के मुहावरे में अभिव्यक्त होता है। इसी के चलते मूल मूल्यों का समय-समय पर नवीकरण होता है यद्यपि इन्हें प्रदर्शन विषयक रूपान्तरण से गुजरना पड़ता है। प्रसंग की बाध्यताएँ मूल्यों की अभिसारिता सृजित करती है। यद्यपि सतही तौर पर समय के अनेक रुझानों के बीच वैरभाव को चिह्नित किया जा सकता है। एक तरफ गांधी और दूसरी तरफ नास्तिकों, मार्क्सवादियों एवं अन्य– जो एक ही लक्ष्य के लिए संघर्षरत जान पड़ते हैं, के बीच अन्तर यह है कि गांधी इन मूल्यों की प्रधानता की बात करते हैं जबकि नास्तिक बगैर कोई पूर्ण या तार्किक आधार बताये इन्हें स्वीकार करते हैं। यह नास्तिकों की स्थिति को कमजोर करता है। खासकर, जब मूल्यों का टकराव समयोचितता की दूसरी माँगों से होता है, क्योंकि ये माँगें मूल्यों को दूसरे कारकों के आनुषंगिक के तौर पर स्वीकार करती हैं– उदाहरणार्थ, मार्क्सवादियों के मामले में इतिहास की माँगें अथवा सामाजिक

साहचर्य का हित जैसा कि गोरा एक दूसरी जगह तर्क देते हैं। जब गांधी दूसरी तरफ सत्य की पहचान निश्चित मूल्यों के साथ करते हैं और इसके बाद कहते हैं– 'सत्य ही ईश्वर है,' तो इन मूल्यों की परिसमाप्ति होती है और कुछ भी उनमें समझौता नहीं करा सकता है। मूल्यों के इस विचार पर मनुष्य के किसी भी सही हित का उनसे टकराव नहीं हो सकता है, और इसलिए कोई भी त्याग करके अनुरक्षण हेतु बहुत ज्यादा नहीं होगा।

मूल्यों की प्रसंगाश्रितता के महत्त्व को इस तथ्य से प्रकाश में लाया जाता है कि एक दूसरे महान व्यक्ति काउंट लियो टॉल्सटाय स्वतन्त्र रूप से उन विचारों तक पहुँच गये थे जो गांधी के विचारों की तरह थे। टॉल्सटाय के विचारों ने गांधी को प्रेरित भी किया। साठ वर्ष की उम्र में टॉल्सटाय ने यह महसूस किया कि विलासिता का जीवन एक पापकर्म है, और उन्होंने सभी तरह की भौतिक सम्पत्तियों का त्याग कर दिया (वह एक रूसी नोबल बन चुके थे) और प्रयास किया कि खेतों में अपने हाथ से काम करने वाले एक साधारण किसान की तरह जीवन-यापन किया जाए। वह भी गांधी की तरह ईसा के उपदेशों से गहरे प्रभावित थे तथा ईसाई सभ्यता और चर्च के कार्यों से विस्मयाभिभूत थे। उन्होंने खुलेआम अपने विचारों को फैलाया जिसके लिए उन्हें रूढ़िवादी रूसी चर्च द्वारा धर्मनिकाला भी किया गया। विशेषकर, वह किसी भी तरह के युद्ध और हिंसा से विमुख थे। उन्होंने खुलेआम राज्य के युद्ध प्रयासों से सम्बन्धित आदेशों की अवज्ञा का समर्थन किया, यद्यपि इस तरह के कार्य करने का मतलब था राज्य के द्वारा दंडित होना। लेकिन, उन्होंने इसकी परवाह नहीं की। उन्होंने यह भी महसूस किया कि बगैर अनिवार्य नैतिक दिशा के तकनीकी विकास मनुष्य को केवल एक कुशल और खतरनाक प्राणी बनाता है। उन्होंने अपनी एक छोटी-सी पुस्तक, 'द लॉ ऑफ लव एंड द लॉ ऑफ वायलेंस' में लिखा :

"ईसाई जगत के व्यक्ति प्राणियों के अस्तित्व का भी नेतृत्व करते हैं एवं उनके स्वार्थपरक हितों से अपना मार्ग निर्देशन करते हैं। इनके बीच संघर्ष की एक शाश्वत स्थिति बनी रहती है तथा ये इसी के बीच रहते हैं। जानवरों से जो चीजें इन्हें अलग करती हैं, वे हैं जानवरों को भोजन की नियत आवश्यकता होती है तथा अपने बचाव के लिए उनके पास पंजे होते हैं; जबकि मनुष्य सड़क से रेलमार्ग, पशुगति से भापशक्ति, बोले गये शब्द

और पांडुलिपियों से मुद्रण, बेतार संवाद, दूरभाष; पालपोत से अटलांटिक पार जहाजों, इस्पाती अस्त्रों से तोपों, मशीनगनों, बमों और हवाई जहाजों तक उद्‌भ्रान्त जल्दबाजी से गुजरते हैं। यह हमारा अतिश्रान्त जीवन है जो मजीठ बनता जा रहा है, जो दु:खी होता जा रहा है क्योंकि मनुष्य उस आध्यात्मिक नैतिक सिद्धान्त को जो उन्हें शान्ति और सौहार्द वाले समाज में एकबद्ध रख सकता है, अंगीकार करने के बदले अपनी पाश्विक वृत्तियों से परिचालित हो रहा है जिनकी तलाश उसे बौद्धिक क्षमताओं का अनुचित लाभ उठाकर सन्तुष्ट करने के लिए होती है।''

यद्यपि गांधी ने जिस तरीके से अहिंसक प्रतिरोध के विचार को साफ-साफ सूत्रबद्ध किया था, टॉल्सटाय ने वैसा नहीं किया था, लेकिन सामाजिक बुराइयों के उपचार हेतु प्रचलित राजनीतिक विधियों के अपने विश्लेषण में टॉल्सटाय इसके काफी करीब पहुँच जाते हैं। एक रूसी महिला को सम्बोधित अपने पत्र 'उदारवादियों के नाम पत्र' में वह हिंसा की विधि को खारिज करते हैं जो उनके तर्कानुसार या तो भयंकर हिंसा के सामने दम तोड़ देती है या यदि सफल हो जाती है तो अपनी पकड़ बनाये रखने के लिए निरन्तर हिंसक और बड़े कार्यों में व्यस्त रहना पड़ता है जो अन्तत: आन्दोलन के लक्ष्य को सन्दूषित करता है। वह राज्य की संस्थाओं के जरिये क्रमिक सुधारों के उदार उपाय को अस्वीकार भी करते हैं। उन्होंने सोचा कि यह बाद वाली विधि भी व्यर्थ है (निस्सन्देह उनके जेहन में रूसी हालात था)। इसके बदले उन्होंने यह सुझाव दिया कि लोगों को खुद निश्चयपूर्वक कहना होगा और अपनी अन्तरात्मा हेतु राज्य के विरुद्ध खड़ा होना होगा। उनके निबन्ध 'ईश्वर का राज्य' के अन्त में अहिंसा पर एक प्रश्नोत्तरी है जिसमें अन्य प्रश्नों और उत्तरों के अलावा निम्नलिखित प्रश्न और उत्तर भी शामिल हैं :

प्रश्न : क्या हम 'अप्रतिरोध' शब्द को व्यापक अर्थ में समझते हैं अर्थात उस अर्थ में कि व्यक्ति को बुराई इत्यादि का प्रतिरोध नहीं करना चाहिए?

उत्तर : नहीं, इसे अक्षरश: उस तरह से समझा जाना चाहिए जैसा कि ईसा ने इसे बतलाया है– अर्थात बुराई के बदले बुराई नहीं करना। बुराई का प्रतिरोध सभी कानून-सम्मत साधनों से होना चाहिए, बुराई से नहीं।''

उपर्युक्त विश्लेषण और प्रश्नोत्तरी में हमें पहले ही उस अस्त्र की आत्मा मिल जाती है जो गांधी के यहाँ सत्याग्रह का अस्त्र बन जाती है। गांधी का

'प्रेमशक्ति' का विचार सीधे टॉल्सटाय के 'प्रेम का कानून' से लिया गया रहा होगा।

यद्यपि गांधी कुछ समय पहले से टॉल्सटाय को जानते थे, लेकिन गांधी का टॉल्सटाय से सम्पर्क उनके जीवन की सान्ध्यबेला में ही हो पाया था। वह भी उस वक्त जब 1909 ई. में दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह आन्दोलन शुरू हो चुका था। इस अनोखे आन्दोलन की खबर ने टॉल्सटाय को काफी उत्तेजित कर दिया। टॉल्सटाय भी गांधी की ही तरह बुराइयों से लड़ने के लिए अहिंसक हथियार की तलाश कर रहे थे। फलस्वरूप, दोनों के बीच बहुत प्रेरक व उत्साहपूर्वक पत्राचार हुआ। टॉल्सटाय सत्याग्रह आन्दोलन और इसके नायक के बारे में ज्यादा-से-ज्यादा जानने को इच्छुक थे और उन्होंने यथासम्भव इसको प्रचारित करने की कोशिश की। लेकिन, वह एक वृद्ध और बीमार व्यक्ति थे, गांधी से सम्पर्क होने के महज एक साल बाद सितम्बर 1910 में उनका देहान्त हो गया। लेकिन, अपनी मृत्युशैय्या से उन्होंने जो पत्र लिखवाया, उसमें दक्षिण अफ्रीका में गांधी द्वारा किये जा रहे इस नवप्रयोग की भूरि-भूरि प्रशंसा थी। पत्र में अन्य बातों के अलावा निम्नलिखित बातें थीं :

''मुझे अब मौत के करीब होने की अनुभूति हो रही है। लेकिन, मैं जब तक जिन्दा हूँ, दूसरे लोगों को अपनी उस विशिष्ट व स्पष्ट अनुभूति के बारे में बतलाना चाहता हूँ जो मेरी समझ से बड़े महत्त्व की चीज है : अर्थात सत्याग्रह के बारे में, वास्तव में प्रेम सत्याग्रह के उपदेश के सिवाय कुछ नहीं है। गलत व्याख्याएँ प्रेम को दूषित नहीं कर सकती हैं।

''वह प्रेम मानवीय जीवन का सबसे बड़ा और एकमात्र कानून है तथा प्रत्येक मानव प्राणी तहेदिल से (जैसा कि हम बच्चों में सबसे ज्यादा साफ देखते हैं) इसे जानता और अनुभव करता है : वह इसे तब तक जानता है जब तक कि उसे संसार के गलत उपदेश उलझा नहीं देते हैं। इस कानून की घोषणा सबने की थी, दुनिया के तमाम यहूदी, यूनानी, रोमन, भारतीय और चीनी सन्तों ने की थी।

''वास्तव में ज्यों ही बल को प्रेम में शामिल कर लिया गया, जीवन के कानून के तौर पर प्रेम का अन्त हो गया, और चूँकि प्रेम का कानून खत्म हो गया, इसलिए कोई कानून ही नहीं रह गया सिवाय हिंसा के अर्थात सबसे मजबूत लोगों की शक्ति के ...''।[7]

इन दोनों के विचार लगभग एक जैसे थे। गांधी के अन्दर टॉल्सटाय के प्रति इतना अधिक सम्मान-भाव था कि 1910 के मध्य में जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में जोहांसबर्ग के नजदीक सत्याग्रहियों के लिए एक कम्यून की शुरुआत की तो उसका नाम 'टॉल्सटाय फार्म' रखा।

ऐसा प्रतीत होता है कि संघर्ष के एक नये तरीके की तलाश सर्वत्र हो रही थी। इसके आध्यात्मिक निहितार्थ पर ज्यादा सोचे बिना तथा शायद यह महसूस किये बिना भी कि वे संघर्ष का एक नया तरीका अपना रही हैं, इंग्लैंड की महिलाएँ नारी मताधिकार आन्दोलन के दरम्यान-- लगभग दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह आन्दोलन के समय ही– उसी तरह अहिंसक तरीके से संघर्ष कर रही थीं। उनके पास गांधी सरीखा कोई आध्यात्मिक पथप्रदर्शक नहीं था, इसलिए कभी-कभी उन लोगों ने उस दृढ़ आत्म-अनुशासन का उल्लंघन भी किया जो एक सचेत सत्याग्रही स्वयं के ऊपर आरोपित करता है।

यह उल्लेख करना रोचक होगा कि गांधी जब दक्षिण अफ्रीकी जेल में थे तो थोरो के लेखन का अध्ययन किया। इस तरह से गांधी को महसूस हुआ कि वह थोरो को पढ़े और जाने बगैर पहले से वही काम कर रहे हैं जिनके बारे में थोरो के उपदेश थे। थोरो ने भी इस चीज की वकालत की थी कि यदि किसी को ऐसा लगता है कि सरकार गलत ढंग से कार्य कर रही है तो उसे ऐसी सरकार का सहयोग करना बन्द कर देना चाहिए। उन्होंने अनिवार्य रूप से राजनीतिक विषयों की बाबत एक नैतिक दृष्टिकोण अपनाया तथा मनुष्य की अन्तरात्मा के विरुद्ध लोकतान्त्रिक राज्य के भी स्वयं को आरोपित करने के अधिकार को अस्वीकार किया। अपने प्रसिद्ध लेख 'सविनय अवज्ञा' जिसे गांधी ने जेल में पढ़ा, में उन्होंने लिखा था :

''सबके बावजूद, जब सत्ता एक बार जनता के हाथों में आ जाती है तो बहुमत को क्यों हरी झंडी दे दी जाती है, और वह लम्बे समय तक शासन क्यों करते रहता है? इसका व्यावहारिक कारण यह नहीं है कि वह शासन करने के लिए सबसे योग्य होता है अथवा यह भी नहीं कि, यह अल्पसंख्यकों के प्रति काफी साफ हृदय रखता है, बल्कि व्यावहारिक कारण यह है कि वह शारीरिक रूप से सबसे मजबूत होता है। लेकिन, जिस सरकार में बहुमत हर मामले में शासन करना है, वह सरकार जहाँ तक लोग समझते हैं, तो भी न्याय पर आधारित नहीं हो सकती है। क्या वैसी कोई सरकार नहीं हो सकती है जिसमें

बहुमत सही और गलत का निर्णय नहीं करता हो, बल्कि अन्तरात्मा करती हो? जिसमें बहुमत केवल उन्हीं प्रश्नों का निर्णय करे जिनमें औचित्य का शासन अनुपालनीय हो? क्या हर नागरिक को क्षण-भर के लिए या न्यूनतम अंश में विधायक को अपना अन्तर्विवेक अर्पित कर देना चाहिए? तब प्रत्येक व्यक्ति के पास अन्तर्विवेक क्यों है? मैं सोचता हूँ कि हमें पहले मनुष्य बनना चाहिए और विषय बाद में...।''

थोरो युद्ध और गुलामी के विरोधी थे। लेकिन, उनके समय में संयुक्त राज्य अमेरिका में दासता एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी और संयुक्त राज्य अमेरिका मैक्सिको से युद्ध लड़ा था। विरोधस्वरूप थोरो ने व्यक्ति कर देने से इनकार कर दिया था। इसके लिए उन्हें एक दिन के कारावास की सजा हुई थी। यह आनुषंगिक रूप से उस समस्या का भी उत्तर था जो राजनीतिक विचारकों को प्रजातान्त्रिक सरकार के रूप में संस्थापित होने के समय से ही सदा परेशान कर रही थी। समस्या यह थी कि जब सही और बहुमत के निर्णय के बीच विवाद उत्पन्न हो जाए तो उस स्थिति में क्या करना चाहिए? किसे बने रहने की अनुमति मिलनी चाहिए, सही को या बहुमत के निर्णय को? पूर्व के सभी समाजों में जो लोग सही के पक्ष में होते थे, वे न्याय की तानाशाही के किसी रूप का समर्थन करते थे और यह तानाशाह बहुमत के विरुद्ध उस सही को लाद देता था। इसके विरुद्ध वे लोग जो बहुमत के लिए जाने जाते थे, बहुमत की 'प्रजातान्त्रिक तानाशाही' की वकालत किया करते थे। थोरो के उपदेश और कार्य में सदियों पुरानी इस समस्या का समाधान भी दिखता है। सही होने से आश्वस्त एक अल्पसंख्यक बलपूर्वक अपनी इच्छा बहुमत पर आरोपित नहीं कर सकता था। बल्कि उसे बहुमत की सरकार के ऐसे कार्यों और कानूनों का प्रतिरोध करने के कारण पीड़ा सहने के लिए तैयार रहना पड़ता था, क्योंकि बहुमत की सरकार इसे अनुचित मानती थी। थोरो का मानना था कि अन्यायी सत्ता के अन्तर्गत रहने वाला प्रत्येक ईमानदार व्यक्ति का स्थान कैदखाने में होता है। 'सविनय अवज्ञा' पर लिखे गये थोरो के लेख को पढ़ने से पहले ही गांधी उस विचार को व्यवहार में ला चुके थे। वस्तुतः वह थोरो से एक कदम आगे बढ़ चुके थे। ऐसा उन्होंने व्यक्तिगत प्रतिरोध के सिद्धान्त को अधिकांश लोगों के संगठित अहिंसक प्रतिरोध के तल तक उन्नत करके किया। इसने सत्याग्रह के लिए ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि सत्याग्रह सामाजिक अन्याय के

प्रत्येक रूप से लड़ने का एक शक्तिशाली अस्त्र बन गया।

गांधी के अहिंसक प्रतिरोध के अफ्रीकी प्रयोग के समय की बात है। समय था। वह 1908 ई. में समुद्री जहाज से इंग्लैंड से अफ्रीका लौट रहे थे। उन्होंने जहाज में ही सुकरात की संवाद शैली में पश्चिमी सभ्यता, भारत और विश्व पर इसके प्रभाव तथा इससे मुक्ति के रास्ते के बारे में अपने विचारों को शब्दबद्ध किया। वह एक छोटी पुस्तिका बन गयी जिसमें तीस हजार से भी कम शब्द थे। इस पुस्तिका में उन्होंने पश्चिमी सभ्यता की उन तमाम बुनियादी बुराइयों पर अँगुली रखी जिन्हें वह शैतानी कहते थे। यह देखकर कोई भी आश्चर्यचकित हो जाता है कि उन्होंने उस वक्त इस सभ्यता की बुराइयों की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया जब पर्यावरण और आतंकवाद की समस्या एक व्यापक घटना बन गयी थी तथा बड़े पैमाने पर युद्ध का खतरा अभी भी मँडरा रहा था। उन्होंने पश्चिमी औद्योगिकता को उस समय खारिज किया और यह कहा कि यह भारत के जीवन का मार्ग नहीं हो सकता है, जब प्रतिस्पर्द्धा कर रहे अधिकांश भारतीयों को वह व्यवस्था स्वराज्य सरकार का सबसे बड़ा लक्ष्य दिखाई देती थी। वह अनोखे किस्म के व्यक्ति थे। वह अँग्रेजों के शासन का अन्त चाहते थे तथा उस जीवन-शैली को पूरी तरह खारिज करते थे जिसे अँग्रेजों ने भारत में लागू की थी। इसके बावजूद उन्हें अँग्रेजों से तनिक भी द्वेष नहीं था। उनकी यह भी इच्छा थी कि यदि अँग्रेज भारतीय जीवन-शैली को स्वीकार कर लेते हैं तो उन्हें भारतीय नागरिक के रूप में भारत में रहने की अनुमति दी जा सकती है। वह अँग्रेजों के लिए भी ईमानदारी से कामना करते थे कि वे उस बुरी सभ्यता से मुक्त हो जाएँ जिसने उन्हें अपनी कैद में ले रखा है।

ऐसा नहीं है कि गांधी उस सभ्यता के कथित लाभ से अर्थात इसके द्वारा दिये जाने वाले अनेक तरह की सुविधाओं के वायदों से नावाकिफ थे। वस्तुत: वह सभी तरह के उन कल्पित लाभों को गिनाते हैं जिनमें से अधिकांश अभी भी भविष्य के वायदे हैं। इसलिए, जब वह उन्हें अस्वीकार करते हैं तो उन्हें इस बात की पूरी समझ रहती है कि वह क्या कर रहे हैं। वह लिखते हैं :

''सम्पादक : पहले हमें यह समझना चाहिए कि 'सभ्यता' शब्द से वस्तुओं की किस स्थिति का वर्णन होता है। इसकी सही जाँच इस तथ्य में निहित है कि इसके अन्दर रहने वाले लोग शारीरिक कल्याण को जीवन का

उद्देश्य बना लेते हैं... पहले, लोग चौपहिया गाड़ी में यात्रा करते थे। अब ट्रेनों में बैठकर हवा में उड़ते हैं तथा प्रतिदिन चार सौ मील या इससे भी अधिक दूरी की यात्रा करते हैं। यही सभ्यता की ऊँचाई समझी जाती है। ऐसा कहा गया है कि जैसे-जैसे मनुष्य प्रगति करेगा वह हवाई जहाज में घूमने के लायक बन जाएगा तथा चन्द घंटों में ही वह दुनिया के किसी भी हिस्से में पहुँच जा सकता है। मनुष्य को अपने हाथ-पैर का इस्तेमाल करने की जरूरत नहीं होगी। वह एक बटन दबाएगा और उसके कपड़े बगल में आ जाएँगे। वह दूसरा बटन दबाएगा और उसके पास अखबार आ जाएगा। तीसरा बटन दबाएगा और उसकी गाड़ी सामने आकर खड़ी हो जाएगी। उसे नाना प्रकार के सुस्वादु व्यंजन खाने को मिलेंगे। प्रत्येक चीज मशीन से ही होगी। पहले जब लोग किसी से लड़ना चाहते थे तो लड़ने के पहले शारीरिक शक्ति का मिलान करते थे : अब तो पहाड़ी पर बैठा एक आदमी बन्दूक से हजारों लोगों की जान ले सकता है। यही सभ्यता है। पहले लोग केवल खुली हवा में जब तक चाहते थे, काम करते थे। अब हजारों मजदूर एक साथ मिलते हैं और निर्वाह हेतु कारखानों या खानों में काम करते हैं। उनकी स्थिति जानवरों से भी बदतर होती है। वह जान पर खेलकर पूँजीपतियों की खातिर काम करने के लिए विवश होते हैं। पहले लोगों को भौतिक अनिवार्यताओं के तहत गुलाम बनाया जाता था। अब उन्हें पैसों एवं उन पैसों से खरीदी जाने वाली विलासिताओं का लालच देकर गुलाम बनाया जाता है...

''सभ्यता भौतिक सुख-सुविधाओं को बढ़ाने का प्रयास करती है और यह ऐसा करने में बुरी तरह असफल हो जाती है। यह सभ्यता अधर्म है। इसने यूरोप में ऐसी पकड़ बना ली है कि जो भी इसकी गिरफ्त में है, अर्द्धविक्षिप्त जान पड़ता है। उनके पास वास्तविक शक्ति या साहस की कमी है। वे नशे के दम पर अपनी ऊर्जा कायम रखते हैं। वे अकेले में खुश नहीं रह सकते हैं। औरतें जिन्हें घर की रानी होनी चाहिए, गलियों में घूमती हैं या कारखानों में गुलाम बन जाती हैं। लगभग आधा मिलियन (पाँच लाख) औरतें अल्पराशि के लिए कारखानों या इसी तरह की अन्य संस्थाओं में कठिन स्थितियों का सामना करते हुए काम कर रही हैं। यह विस्मयकारी तथ्य विकसित हो रहे नारी मताधिकार आन्दोलनों के कारणों में से एक है।''

गांधी वस्तुओं की इस स्थिति से सभ्यता के एक-दूसरे सिद्धान्त का

प्रतितुलन करते हैं जो मनुष्य की भूख पर रोक लगाने का प्रयास करता है :

''सभ्यता व्यवहार का वह तरीका है जो मनुष्य को कर्तव्य का मार्ग बतलाता है। कर्तव्य-पालन और नैतिकता का अनुपालन परिवर्तनीय शब्द हैं। नैतिकता का पालन करना, मन और मनोविकारों पर नियन्त्रण करना है। ऐसा कर हम स्वयं को जानते हैं।

''यदि यह परिभाषा सही है, तो भारत को जैसा कि अनेक लेखकों ने दिखाया है, किसी से कुछ नहीं सीखना है। यह उसी तरह से है जैसा इसको रहना चाहिए। हम देखते हैं कि मन एक चंचल पक्षी है जो कभी आराम नहीं करता है। इसे जितना अधिक मिलता है, उतना ही अधिक यह चाहता है। इसके बावजूद असन्तुष्ट रहता है। हम अपने मनोविकारों में जितना अधिक लिप्त होते जाते हैं, उतना ही ज्यादा ये अनियन्त्रित होते जाते हैं। इसलिए, हमारे पूर्वजों ने अपने अतिभोग पर सीमा लगा दी। उन्होंने देखा कि खुशी कुल मिलाकर एक मानसिक स्थिति है। यह आवश्यक नहीं कि जो व्यक्ति धनी होता है, वह खुश रहता है तथा जो व्यक्ति निर्धन होता है, वह दु:खी रहता है। प्राय: धनी व्यक्ति ही दु:खी रहता है तथा निर्धन व्यक्ति खुश रहता है। लाखों लोग हमेशा गरीब रहेंगे। यह सब देखकर ही हमारे पूर्वजों ने विलासिताओं और खुशियों से मन फेर लिया। हमने उसी तरह के हल से प्रबन्ध कर लिया है जैसा हजारों साल पहले था...।''

इसके बाद यह जोर देकर कहा गया है कि हमारे पूर्वज अनुसन्धानों और नगरीय जीवन से जान-बूझकर दूर रहे, क्योंकि वे जानते थे कि मशीन और शहरी जीवन के साथ खुश नहीं रहा जा सकता है। हालाँकि, वे इन दोनों के लिए सक्षम थे। शायद भारत का अतीत ज्यादा आदर्शीकृत रहा है। वह एक प्राकृतिक प्रक्रिया का हिस्सा है जिससे भविष्य के आदर्शों को गढ़ा जाता है। आर्थर कोएस्लर ने एक बार लिखा था, प्रत्येक यूटोपिया अतीत के कुछ आदर्शीकृत विचारों पर आधारित होता है। महत्त्वपूर्ण चीज घटना की ऐतिहासिकता नहीं होती है बल्कि एक आदर्श को सत्याभास देने में इसकी भूमिका होती है। वह आदर्श ऐसा होता है जिसके लिए पूर्व में कभी प्रयास नहीं किया गया होता है और इसलिए, वह वास्तविक जीवनानुभव से काफी दूर जान पड़ता है। यह वर्ण-व्यवस्था के प्रति उनके भाव के बारे में भी सही है। अन्धविश्वास और उत्पीड़न के प्रत्येक रूप का गांधी के निर्मम विरोध के

प्रसंग में अनेक लोग उन्हें वर्णाश्रम धर्म में विश्वास के अपने पुनरुक्त दावे का षड्यन्त्र करता हुआ देखते हैं। हालाँकि, इस तरह के सन्देह इसलिए उत्पन्न होते हैं क्योंकि लोग उस जाति-प्रथा, जो अपने ऊँच और नीच के विचारों पर कायम है व वर्णाश्रम धर्म से सम्बन्धित गांधी के आदर्शीकृत सिद्धान्त के बीच अन्तर करने पर ध्यान नहीं देते हैं। उन्होंने न केवल बार-बार ऊँच और नीच के सिद्धान्त पर टीका-टिप्पणी की, बल्कि सक्रिय ढंग से सामाजिक भेदभाव के किसी रूप, विशेषकर अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष किया। अस्पृश्यता से तो उनको इतनी ज्यादा घृणा थी कि उन्होंने 1934 ई. के बिहार के भूकम्प को इस पाप कर्म का ही फल कहा।

उन्होंने वर्णाश्रम को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया था कि यह एक मनुष्य को कर्तव्यों से बाँध देता है। यह मनुष्यों के बीच की उस क्रूर प्रतियोगिता को समाप्त करने में मदद करता है जो हमें इस आधुनिक व्यावहारिक सभ्यता में दिखलाई देती है। उनके आदर्शीकृत वर्ण-व्यवस्था में यद्यपि हर किसी को समाज में अपनी भूमिका मिली हुई है, सामाजिक भूमिका से उसके स्तर में घट या बढ़ नहीं होती है और न ही अपनी सामाजिक भूमिका अदा करते हुए शूद्रों को सुशिक्षित बनने पर रोक है। सचमुच, रैदास और कबीर सरीखे कुछ महान सन्त कवियों को हम देखते हैं कि वे अपने उन पारम्परिक धन्धों से जुड़े रहे जिन्हें तब एक निम्न कार्य माना जाता था। वे इस आदर्श का पालन कर रहे थे। साथ ही, श्रेष्ठ आध्यात्मिक हैसियत भी हासिल कर रहे थे। शायद वर्णाश्रम के बारे में गांधी का वही आदर्श था जिसका उन्होंने स्वयं में श्रेष्ठ आध्यात्मिक प्रयासों को भंगी, धोबी और जुलाहे के निम्न कार्यों से मिलाकर पालन किया।

इस विचार की व्यवहार्यता पर इस तथ्य को समझते हुए किसी को यह उचित सन्देह हो सकता है कि हममें से शायद ही कोई गांधी या कबीर के सन्तत्व को प्राप्त कर सकता है। लेकिन, इस विचार को विशुद्ध सैद्धान्तिक आधार पर सुप्रसिद्ध आधुनिक मानव शरीर विज्ञानी क्लाउड लेवी स्ट्रॉस का समर्थन मिलता है। वह लिखते हैं :

''मानव जाति के लिए यह दु:खद है कि महान अनुभव विफल हो गया (वर्णप्रथा का अनुभव - यद्यपि वह जाति-प्रथा शब्द का प्रयोग करते हैं, लेकिन उनके दिमाग में वस्तुत: वर्णप्रथा ही है - लेखक), मेरा मतलब यह इतिहास के क्रम में विफल हो गया, अनेक जातियाँ उस स्थिति में पहुँचने में

सफल नहीं हुईं जिसमें वे समान रह सकती थीं, क्योंकि वे भिन्न थीं– समान इस अर्थ में कि उनके बीच कोई सामान्य मापक नहीं था – और यह कि, एकरूपता का हानिकारक तत्त्व लागू कर दिया गया था जिसने तुलना को सम्भव बना दिया तथा इसके चलते एक श्रेणीबद्ध संस्था कायम हो गयी। मनुष्यों का सह-अस्तित्व इस स्थिति में तो हो ही सकता है कि वे एक-दूसरे को अलग रंग-रूप का होने के बावजूद समान नजर से देखे और पहचाने। लेकिन, यह सह-अस्तित्व आपस में मानवता के किसी तुलनीय अंश को इनकार करते हुए मातहती की प्रथा निर्मित करके भी हो सकता है।''[8]

दूसरी तरह का संगठन ठीक पहले वाले के विपरीत ठहरता है। यह फासीवाद की तरफ ले जाता है। वर्ण-व्यवस्था में असमानता की पारम्परिक असम्बद्धता पर विचार करते हुए उस व्यवस्था की तरफ वापसी फासीवाद को पैदा कर सकती है। इसलिए, गांधी से छोटे लोगों की दुनिया में सबसे अच्छी चीज होती वर्ण-व्यवस्था का समुचित शवाधान करा देना। गांधी स्वयं इस राय से सहमत थे। इसीलिए, बाद में वह अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देने लगे।

निस्सन्देह, यह सारा दृष्टान्त इस बात को समझने का है कि घृणित वर्तमान का एक विकल्प देने के लिए गांधी ने कैसे अतीत के उस आदर्शीकृत चित्र का प्रयोग किया जिसे कि वह खुद ईमानदारीपूर्वक एक यथार्थ स्थिति मानते थे। इस प्रसंग में इस बात का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है कि क्या वह आदर्शीकृत चित्र किसी ऐतिहासिक वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करता था?

वह बार-बार इस विचार को स्थापित करने का प्रयास करते हैं कि मनुष्यों की सही खुशी आन्तरिक झुकाव अर्जित करने में होती है, न कि बाह्य सम्पत्ति अर्जित करने में होती है। बाह्य सम्पत्तियों का अर्जन अधिकाधिक सम्पत्ति अर्जित करने की भूख को बढ़ा देता है और इस तरह, दिमाग की शान्ति को खत्म करता है। इसलिए, सही खुशी तभी हो सकती है जब मनुष्य का बाह्य सम्पत्तियों के लिए जीना बन्द हो जाए और वह अपने अन्दर उनके प्रति विकर्षण पैदा करे। इसके लिए उन्होंने धर्म और इसके नैतिक उपदेशों को अनिवार्य पूर्व शर्त बतलाया। ऐसी मानसिक दशा के बगैर बाह्य सम्पत्ति धूल समान थी। टी.एस.इलियट ने 'वेस्टलैंड' यह दिखाने के लिए लिखा कि जिस सभ्यता में आन्तरिक जीवन नहीं हो और वह केवल बाह्य सम्पत्ति के लिए

जिन्दा हो, तो वह बिल्कुल व्यर्थ है। इस तरह का जीवन मनुष्य के प्रत्येक कार्य को बेमानी और यान्त्रिक बना देता है। अपनी इस महान काव्यात्मक कृति में वह स्पष्ट रूप से पश्चिमी जगत की इस स्याह तस्वीर का रेखांकन करते हैं। गांधी ने अपने तरीके से उसी तरह की तस्वीर इलियट से एक दशक पहले खींची थी।

लेकिन, यदि गांधी केवल आधुनिक जीवन के धर्मविरुद्ध चरित्र की भर्त्सना किये होते तो वे अमूर्त नैतिक मूल्यों के ठीक एक-दूसरे उपदेशक बन गये होते। वह बिल्कुल एक उपदेशक नहीं थे। वह दुनिया को अपने अहिंसक तरीके से जीवन-शैली और व्यवहार में बदलाव लाने के लिए बाध्य करना चाहते थे। उनके मुताबिक, दुनिया का यह व्यवहार और जीवन-शैली मानवजाति को विध्वंस की ओर ले जा रहे थे।

गांधी का अहिंसक आन्दोलन सम्बन्धी विचार ठीक उस समय आया जब हिंसा समाजों या राष्ट्रों के बीच की समस्या का समाधान करने की विधि के रूप में सम्पूर्ण अपूर्णता प्रदर्शित कर रही थी। दो विश्वयुद्धों में बड़े पैमाने पर शस्त्रों की आजमाइश हो चुकी थी तथा तीसरे विश्वयुद्ध की सम्भावना प्रबल हो गयी थी। इससे यह स्पष्ट हो गया था कि राष्ट्र के बीच के विवादों को स्थायी रूप से हिंसा के जरिये नहीं सुलझाया जा सकता है। हिंसा के जरिये समाधान की आशा धूमिल हो गयी थी। युद्ध के विजेता केवल नये प्रतिद्वन्द्वी तैयार करते हैं या पराजितों में प्रतिशोध की भावना उत्पन्न करते हैं जो भविष्य के युद्ध हेतु बीज का काम करती है। 1871 ई. का वार्साय जहाँ बिस्मार्क ने फ्रांसीसियों को अपमानित किया, जिसके कारण 1918 की वार्साय सन्धि हुई जहाँ फ्रांसीसियों ने अपना प्रतिशोध लिया। इससे हिटलर का पदार्पण हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के विजेता यू.एस.ए. और सोवियत संघ अब एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बन गये हैं तथा दुनिया को नाभिकीय सत्यानाश की तरफ ले जा रहे हैं।

उन लोगों के लिए भंडार में बहुत बड़ा भ्रान्तिनिवारण भी था जो हिंसा से सामाजिक समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करते थे। प्रथम विश्वयुद्ध के पहले आन्दोलनकारी तबके को इस बात का पूरा यकीन हो चुका था कि पूँजीवाद के तहत युद्ध निहित स्वार्थों के कारण होते हैं। इसलिए, सोशलिस्ट इंटरनेशनल ने 1912 में बस्ले में आयोजित महासम्मेलन में यह निर्णय कर

लिया था कि समाजवादी पार्टियाँ यदि युद्ध शुरू होता है तो युद्धरत देशों के सर्वहाराओं को युद्ध समाप्त करने के लिए प्रेरित करेंगी। लेकिन, दो वर्षों के भीतर ही यह देखा गया कि मानवी आक्रामकता ऊपर से जितनी गहरी दिखती थी अन्दर से कहीं और ज्यादा गहरी थी तथा अनेक समाजवादी नेता जिन्होंने मजदूर वर्ग की अन्तरराष्ट्रीय एकता को बनाये रखने का संकल्प लिया था, अपने-अपने राष्ट्रीय सरकारों के झंडे तले अपने सर्वहारा बन्धुओं के संहार में शामिल होने के लिए इकट्ठा हो गये। रूस के बोल्शेविकों या जर्मनी के साम्यवादियों ने युद्ध का विरोध जरूर किया, लेकिन वे निहायत अल्पसंख्यक थे।

निस्सन्देह, जैसा कि हमेशा होता है, जब कोई अपने सिद्धान्तों के साथ छल करता है तो वह अपनी विफलता की सफाई देता है। समाजवादियों ने भी ऐसा ही किया। लघुकारी परिस्थितियों को स्पष्ट करने के बाद समाजवादी दलों ने आशा की थी कि तुरही की अगली आवाज पर सर्वहारा अपने शासकों को हटाने हेतु एक साथ उठ खड़े होंगे और अन्ततः सभी युद्धों को समाप्त कर देंगे। इसके बदले युद्धोत्तर वर्षों में लोगों ने अधिकांश यूरोपीय मुल्कों में फासीवाद का विकास देखा। ये मुल्क खुलेआम युद्ध को गौरवान्वित करते थे। इटली, जर्मनी और अनेक अन्य देश पूरी तरह से इस युद्ध के अन्तर्गत आ गये। रूसी क्रान्ति ने प्रथम विश्व युद्ध के दौरान युद्ध और सैन्यवाद का विरोध किया था, लेकिन बाद में उसने ऐसे शासनकाल को जन्म दिया जिसने 1917 की अक्टूबर क्रान्ति की वार्षिकी को अस्त्रों के व्यापक प्रदर्शन में तब्दील कर सैन्यवाद को गौरवान्वित करना शुरू कर दिया। रूसी क्रान्ति के बाद के वे तमाम आन्दोलन जिन्होंने प्रत्यक्षतः या परोक्षतः इससे प्रेरणा ग्रहण की थी, चाहे वह चीनी क्रान्ति हो, क्यूबा या वियतनाम की क्रान्ति हो, सबने हिंसा और सैन्यशक्ति को गौरवान्वित करने का काम किया है। आज विश्वक्रान्ति का विचार भी विश्व अखाड़े में एक सशस्त्र गुट का दूसरे के विरुद्ध विजय में तब्दील हो गया है। इससे जो चीजें हुईं उनके बारे में सोचना भी बहुत भयावह है। लेकिन, यह सामाजिक समस्याओं का समाधान करने के लिए हिंसा के आश्रय का अनभीष्ट प्रभाव है। हिंसा का तर्क सख्त रूप से इसका नेतृत्व करता है। इसका कारण यह है कि हिंसा का तर्क किसी कारण की उपयुक्तता पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि बड़ी हिंसा के कारण का समर्थन करने की योग्यता पर निर्भर करता है। इसलिए, विरोधियों में से प्रत्येक विरोधी उच्च

शक्ति हासिल करने में दूसरे से आगे निकल जाने में व्यस्त रहते हैं। लक्ष्य है, हिंसा का असीम सीढ़ी चढ़ाव।

परन्तु, यह अकेले राज्यों के बीच के सम्बन्ध तक सीमित नहीं है। स्वयं राज्य के अन्दर जब संघर्षी हितवर्ग हिंसा के जरिये अपना लक्ष्य प्राप्त करने की कोशिश करते हैं तो यह प्रतियोगी हिंसा का खेल बन जाता है : इस खेल में विजेता स्वाभाविक रूप से वह पक्षकार बन जात है जो हिंसा की ज्यादा प्रभावशाली और निर्मम ढंग से लामबन्दी कर सकता है। चूँकि यह अन्त तक की लड़ाई बन जाता है, इसलिए न कोई अवसर लिया जाता है और न कोई दया की जाती है। इस प्रक्रिया में सबसे निर्मम लोगों का समूह तानाशाही सत्ता अर्जित कर लेता है और आन्दोलन जिन बुराइयों को खत्म करने के लिए हुए थे, वे बुराइयाँ छद्मवेष में फिर से उत्पन्न हो जाती हैं। रूसी क्रान्ति, चीनी क्रान्ति और क्यूबाई क्रान्ति सभी ने सत्ता का केन्द्रीकरण किया है तथा मुट्ठी-भर लोगों के हाथों में विशेषाधिकार दिया है। यद्यपि विचारक पुनः इस चीज को सिद्धान्त रूप देते हैं कि क्यों आन्दोलनों को वह रास्ता अपनाना पड़ा, लेकिन वे शायद ही इससे किसी को सन्तुष्ट कर पाते हैं। इससे केवल वे कट्टरपन्थी ही सन्तुष्ट होते हैं जिनके अनुसार आन्दोलन का पवित्रीकरण रक्त और आँसुओं की धाराओं से होता है। यद्यपि वे वैज्ञानिक होने का दावा करते हैं, वे वास्तव में केवल कुछ आदिम रक्त संस्कार को प्रतिगुंजित करते हैं कि यह मनुष्य प्राणी के लिए ज्यादा स्वाभाविक है। वैज्ञानिक प्रवृत्ति को उन पर दबाव बनाना चाहिए था कि वे आन्दोलन की उस विधि को नये ढंग से देखें जिसने बगैर अपवाद के आन्दोलन के उस मूल लक्ष्य को ही उलट दिया है जिसकी प्राप्ति के लिए आन्दोलन शुरू किये गये थे। लेकिन, हम सभी अन्य तर्कों की अनदेखी भी कर दें, तो भी एक घातक कमी रह जाती है जिसे शीघ्र ही हिंसक तरीके की भर्त्सना करनी चाहिए अर्थात शक्ति को न्याय की जरूरत नहीं होती है, न ही इतिहास में कभी न्याय से इसकी सम्बद्धता रही है। इसलिए, हिंसक क्रान्ति की सफलता का मतलब केवल उत्कृष्ट हिंसा की विजय होता है। इस आधार पर केवल वे ही विद्रोही जो किसी खास व्यवस्था के विरुद्ध विरोध-स्वरूप हिंसा का सहारा लेते हैं– जायज ठहराये जा सकते हैं। अल्बर्ट कामस कुछ इसी विचार के थे। वह नये मूल्यों के निर्माण हेतु ऐसे विद्रोहियों को श्रेय भी देते हैं। वह लिखते हैं :

''विद्रोह के प्रत्येक कार्य में मानव चिन्तित अनुभव न केवल अपने अधिकारों के उल्लंघन पर जुगुप्सा की एक अनुभूति होता है, बल्कि स्वयं के निश्चित पहलुओं के प्रति एक पूर्ण और स्वत: स्फूर्त निष्ठा भी होता है। इस तरह, वह निश्चित रूप से मूल्यों का एक मानक गढ़ते हैं जो गलत होने से काफी दूर है तथा वह इसे हर कीमत पर सुरक्षित रखना चाहता है।''[9]

लेकिन, हिंसक आन्दोलनों के अन्दर भिन्न दिशा में चले जाने का एक मार्ग होता है। वे निर्दोष लोगों की हत्या करते हैं। इस तरह, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करते हुए वे स्वयं अन्याय करने लगते हैं और समाप्त हो जाते हैं। कामस रचित नाटक 'ली जस्टे' का सचमुच में यहीं विषय है जिसमें एक रूसी क्रान्तिकारी कलियाव (जिसे 1905 में ग्रैंड ड्यूक सर्जी की हत्या करने के आरोप में फाँसी दी गयी थी) के विरुद्ध उसका एक आन्दोलनकारी सहकर्मी स्टीपेन साधनों के बारे में तर्क को लेकर गड्ढा खोदता है। कलियाव, ग्रैंड ड्यूक को जान से मारने के प्रयास में किसी निर्दोष व्यक्ति को क्षति पहुँचाने के लिए सहमत नहीं होता है जबकि स्टीपेन ऐसी किसी भी सीमा को स्वीकार नहीं करता है। स्टीपेन न्याय करने के फेर में नहीं है बल्कि काम को प्रभावशाली ढंग से अंजाम देना चाहता है। आजकल पूरी दुनिया में यही हो रहा है। आतंकवाद जिसे 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में लगभग सभी वामपन्थी समूहों ने त्याग दिया था, आज वैसे अनेक समूहों के विरोध का एक व्यापक तरीका बन गया है जिन्हें लोकतान्त्रिक चुनावों या जनता के बहुमत समर्थित जन-आन्दोलनों के माध्यम से अपने लक्ष्य को प्राप्त करना सम्भव नहीं लगता है। सामान्यत: ये समूह एक या दूसरे तरह के अल्पसंख्यक समुदायों से आते हैं जिनका भला कर पाने में चुनाव प्रणाली विफल हो चुकी है।

यह बाद वाला आतंकवाद मुख्यत: समाज में अल्पसंख्यकों की अखंडता से सम्बन्धित है। मानव समूहों में जीन-जुगुप्सा गहरे बैठी होती है जो किसी पराये या अपरिचित समूह को देखने पर जाग उठती है। वर्तमान विश्व में जहाँ निश्चित जातीय मूल, धर्म या राष्ट्रीयता के लोग काफी संख्या में भिन्न जातीय, धर्म या राष्ट्रीयता के अल्पसंख्यक लोगों के साथ बसे हुए हैं, आत्मसात्करण की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो जाती है। प्राय: अल्पसंख्यकों के साथ भेदभाव होता है। परिस्थितियाँ अनुकूल होने पर वे अलग अस्तित्व की माँग करते हैं, नहीं तो न्यायोचित व्यवहार की माँग करते हैं। लेकिन,

अक्सर इस चीजों को गहरे पारम्परिक पूर्वाग्रहों या कुछ निहित स्वार्थों की वजह से अस्वीकार कर दिया जाता है। अल्पसंख्यक होने के कारण वे आन्दोलन के जरिये सम्बन्ध को नहीं बदल सकते हैं। यदि लोकतान्त्रिक व्यवस्था होती है तो उसमें अनगढ़ जनमत से उनकी शिकायतों पर विचार किया जा सकता है तथा उन्हें दूर किया जा सकता है। लेकिन, यदि अल्पसंख्यक बहुत कृशकाय हो तो इस तरह के उपाय प्राय: अपूर्ण या तुच्छ होते हैं। ऐसी परिस्थिति में हताश अल्पसंख्यक अपने अधिकारों के लिए आतंकवादी कार्रवाइयों का आश्रय लेते हैं। फलस्वरूप, गतिरोध उत्पन्न होता है और बहुसंख्यकों से अल्पसंख्यक दूर होते जाते हैं। दोनों की अर्थात आतंकवाद का तरीका और इसके जवाब की प्रवृत्ति इतनी निर्दयी हो जाती है कि सारे सभ्य नियम धीरे-धीरे उलट जाते हैं।

इस समस्या का एकमात्र समाधान भेदभाव का अहिंसक प्रतिरोध है। चूँकि यह प्रतिरोध आत्म-यातना और विरोधियों के प्रति सदिच्छा पर निर्भर करता है, इसलिए यह अकेले आपस में घुल-मिल रहे अनेक समुदायों के बीच बगैर परायापन पैदा किये भेदभाव को खत्म कर सकता है। इसका कुछ महत्त्व है कि गांधी को अपने इस नये अस्त्र को दक्षिण अफ्रीका में आजमाना पड़ा जहाँ सत्याग्रही एक छोटे-से भारतीय समुदाय से आते थे। इसकी सफलता इस अस्त्र की शक्ति का प्रमाण है। 1914 ई. में जब गांधी ने अपना सत्याग्रह समाप्त किया, तब तक भारतीयों को न केवल अनेक अधिकार मिल चुके थे बल्कि अपने पूर्ववर्ती विरोधियों की नजर में गांधी का सम्मानजनक स्थान बन चुका था। गांधी ने अपने उत्पीड़क और कटु आलोचक को भी अपने दोस्त और प्रशंसक के रूप में बदल दिया। जनरल स्मुट्स जिसके शासनकाल के विरुद्ध गांधी ने संघर्ष किया था, उसने बाद में गांधी के बारे में लिखा :

''दक्षिण अफ्रीकी सरकार के आरम्भिक दिनों की हमारे विवाद की कहानी आपने सुनी है, यह सुविदित है। यह मेरा सौभाग्य था कि मैं उस व्यक्ति का विरोधी बना था, लेकिन मेरे अन्दर उनके प्रति काफी सम्मान का भाव था...। वह कभी भी स्थिति की मानवीय पृष्ठभूमि को नहीं भूले, कभी भी अपना धैर्य नहीं खोये या कभी भी घृणा के सामने हार नहीं माने और अत्यधिक कष्टकर स्थितियों में भी अपने नम्र स्वभाव को बनाये रखे। उनके भाव और व्यवहार तब भी और बाद में भी, उस निर्मम और पाशविक बलपूर्णता से बिल्कुल भिन्न

व विपरीत थे जो हमारे समय का मुख्य चलन बन गयी है...।''[10]

गांधी की विधि के अन्तर्गत, विरोधी अन्त की लड़ाई हेतु कुत्ते की तरह मिट्टी खोदने की जगह संवाद के चैनल खोलते हैं जो अल्पसंख्यकों के मुद्दों के साथ न्याय कर रचनात्मक ढंग से विवाद के निराकरण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। सत्याग्रह का सिद्धान्त इस विश्वास पर आधारित होता है कि कोई भी मानवीय हृदय साथी मानव प्राणियों की पीड़ाओं की अनुभूति से पूरी तरह रहित नहीं होता है। पीड़ा सहने की इच्छा और सोच का समुचित तरीका हो तो विरोधी के साथ संवाद स्थापित करना सम्भव है, भले ही इसका स्वार्थ और पूर्वाग्रह कितना भी बड़ा क्यों न हो। युद्धों से अधिक आतंकवाद का प्रसार यह साबित करता है कि अहिंसक प्रतिरोध ही सभ्यता की एकमात्र आशा है। प्रत्येक पीड़ित अल्पसंख्यक द्वारा आतंकवादी हिंसा की राह अपनाने से हमारी सभ्यता की सारी बुनावट तहस-नहस हो जा सकती है। ऐसी अवस्था में जब अल्पसंख्यक हताशा के साथ उत्तेजित होंगे तो बहुसंख्यक देशद्रोह और आतंक से मनोग्रसित होंगे। प्रमाण के लिए हमें अधिक दूर नहीं जाना है। हमारे अपने देश में ऐसी स्थिति तेजी से बन रही है।

दक्षिण अफ्रीका के अपने प्रथम महान कार्य की तरह गांधी का अन्तिम कार्य था, उस सिद्धान्त को स्थापित करने का प्रयास कि अल्पसंख्यकों को सम्मानजनक ढंग से बहुसंख्यकों के बीच किसी तरह के भेदभाव या छेड़छाड़ के भय के बिना रहने का अधिकार प्राप्त है। और इस अधिकार को पुलिस की बन्दूक से नहीं, बल्कि दृढ़ता और अहिंसक तरीके से समान नागरिकता के अधिकार का दावा करने के अल्पसंख्यकों के स्वयं के संकल्प से प्राप्त किया जाता है। हालाँकि, इस प्रयास ने गांधी की जान भी ले ली। लेकिन इसी भाव को वह नोआखाली के दंगा-पीड़ितों के अन्दर भरने का प्रयास कर रहे थे।

उल्लेखनीय है, सत्याग्रह में सत्याग्रहियों की शक्ति पर कम तथा कारण के न्याय पर ज्यादा जोर रहता है। यह उस विश्वास से मुक्त करता है कि अन्ततः सत्य ही कायम रहता है। इसलिए, यदि यह इच्छित लक्ष्य को स्थापित करने में सफल नहीं भी होता है, तो चुनौती, यहाँ तक कि यह सत्य का एक इजहार है, इसका निजी पुरस्कार है (निस्सन्देह, इस तरह का विचार तभी उत्पन्न हो सकता है जब निश्चित मूल्यों की प्राथमिकता स्थापित होती है।) सत्याग्रहियों को शारीरिक पीड़ा भी दी जाती है या मार दिया भी जाता है, तब

भी उत्पीड़कों को सन्तुष्टि नहीं होती कि उन्होंने सत्याग्रहियों को अपने नियन्त्रण के अनुरूप बना लिया है। एक अकेला निडर सत्याग्रही द्वारा दी गयी यह पराजय एक शक्तिशाली सशस्त्र विरोधी द्वारा दी गयी पराजय जितनी ही प्रभावशाली होती है। यदि शासक अपनी सत्ता शासितों पर लागू करने में विफल हो जाता है तो उसके लिए अच्छा रहता है कि सारी शक्ति उसके नियन्त्रण में रह जाती है। वह केवल एक परभक्षी में पदावनत हो जाता है। यह हथियारों के बल पर किसी की भी जान ले सकता है, किसी की भी भौतिक सम्पत्ति ले सकता है; लेकिन अपनी बात मनवाने में यह असफल हो जाता है। ऐसा कुछ सफाई के साथ कहा जा सकता है कि सत्याग्रहियों के लिए ललकार और शहादत कोई अनोखी चीज नहीं है, बल्कि इसे उन क्रान्तिकारियों में भी देखा जा सकता है जिनका विश्वास हिंसा में होता है। एक हिंसक विद्रोही द्वारा पराजित करने वाले बल के सामने इस तरह की दी गयी ललकार को गांधी अहिंसक कहते। प्रायः वह शक्तिशाली के विरुद्ध कमजोर की हिंसा को पसन्द करते थे, जैसे द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान शक्तिशाली जर्मनों के विरुद्ध पोलैंडवासियों की हिंसा ठीक बिल्ली के विरुद्ध चूहे की हिंसा सदृश थी जो अनिवार्यतः अहिंसक थी। हिटलर द्वारा पोलैंड पर आक्रमण किये जाने के बाद एक पोलिश महिला के पत्र के जवाब में गांधी ने 23.09.1939 के हरिजन की अपनी टिप्पणी की निर्णायक पंक्तियों में लिखा था :

''यदि पोलैंड के पास उत्कट बहादुरी तथा निःस्वार्थता का समान मापक है तो इतिहास यह भूल जाएगा कि उसने हिंसा का सहारा लेकर अपना बचाव किया था। उसकी हिंसा लगभग अहिंसा मानी जाएगी।''

यद्यपि यातना और मौत का साहसपूर्वक सामना करते हुए एक शक्तिशाली विरोधी की अहिंसक और हिंसक ललकार ऊपर से देखने में एक समान लगती है, लेकिन इन दोनों के बीच मौलिक अन्तर है। हिंसक प्रतिरोधी चूँकि अत्यधिक बर्बर शक्ति की अन्तिम विजय में विश्वास करता है, इसलिए उसमें पराजय के बोध का अभाव रहता है तथा उत्पीड़क की भारी शक्ति का सामना करने में अपनी निजी शक्ति की अपूर्णता पर खेद भी प्रकट करता है। इसके विपरीत अहिंसक प्रतिरोधी के लिए यह एक सम्पूर्ण उदासीनता का मामला है कि उसका विरोधी शारीरिक रूप से बहुत शक्तिशाली है क्योंकि वह अपने विरोधी को शारीरिक रूप से पराजित करने का कभी इरादा नहीं करते हैं।

उसका लक्ष्य हमेशा विरोधियों का रूपान्तरण करने का होता है।

किन्तु, एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में यह महज जीवन की दैनिक लड़ाइयों में विजय और पराजय का प्रश्न नहीं है जिसमें मनुष्य और समाज उलझे हुए हैं, बल्कि यह मनुष्य तथा उसके श्रेष्ठ संस्कृति के दावे के बने रहने की समस्या है।

आधुनिक विज्ञान और तकनीक ने मनुष्य की विध्वंसक शक्ति का एक गम्भीर विचार तक पहुँचा दिया है। जब तक उसकी निश्चित पाशविक प्रवृत्तियों पर रोक नहीं लगायी जाती है उसकी समाप्ति एक संकट का रूप धारण कर ले सकती है। मनुष्य में इस तरह की प्रवृत्तियाँ हजारों वर्षों से कायम थीं। लेकिन, पहले जो स्थानीय धमकियाँ होती थीं, वे सहसा स्थायी बन गयी हैं। अस्थायी और स्थानीय अवरोध अब एक वैश्विक संकट की रोकथाम के लिए पूर्ण नहीं हैं। अब मनुष्यों के व्यवहार के तरीके और दृष्टिकोण में सम्पूर्ण रूपान्तरण की जरूरत है। यह नये प्रकार के मनुष्यों की रचना की माँग करता है जो भौतिक क्षेत्र में उल्लेखनीय ढंग से सिद्ध अपनी नवोन्मेषी क्षमताओं पर नियन्त्रण कर सके। गांधी ठीक इसी को पूरा करने के लिए समर्पित थे। इसमें उनकी अपील की सार्वभौमिकता भी निहित है।

कोन्राड लॉरेंज जिसने मानवीय आक्रामकता की स्वाभाविकता के बारे में अपना सिद्धान्त प्रतिपादित कर विवाद का एक तूफान खड़ा कर दिया था, एक बार उल्लेख किया था कि मनुष्य को जैसा हम जानते हैं, वह लंगूर और मनुष्य जाति के बीच के मार्ग के मध्य में स्थित है। गांधी का प्रयास इसी मनुष्य जाति की रचना करने का था।

सजीव प्राणियों में मनुष्य अपनी अनोखी नैसर्गिक प्रवृत्तियों के कारण अत्यल्प परिभाषित रह जाता है। वह पूरी तरह अभिवृत्तियों के अधीन नहीं होता है, इसलिए उसके कार्य--व्यवहार अप्राक्कथनीय बन जाते हैं। ये पैगम्बर (और शायद पैगम्बर विरोधी) ही हैं जो अपने जीवन और उपदेशों से मनुष्य की एक छवि का निर्माण करते हैं जिसके अनुसार बड़े पैमाने पर मनुष्य परिभाषित होता है और इस मानवीय व्यवहार की अनगढ़ रूप से निर्धारित विशेषताओं की संसृष्टि के तौर पर मानवता का भाव विकसित करते हैं। पैगम्बर इस तरह 'आदर्श पुरुष' का निर्माण करते हैं। यही वह आदर्श पुरुष है जिसकी महत्त्वाकांक्षा रखने की अन्य मानव प्राणियों से अपेक्षा की जाती है। इसी के जरिये उस तनाव का निर्माण होता है कि मनुष्य क्या है और उसे क्या

होना चाहिए। यही धीरे-धीरे पाशविक प्रवृत्तियों में डूबे मनुष्य को उन पाशविक प्रवृत्तियों से ऊपर उठाता है। इसका काफी लम्बे समय तक एक आनुवांशिक महत्त्व भी हो सकता है। हम जब पैगम्बरों के आलोक में मनुष्य को परिभाषित और पुनर्परिभाषित करते रह जाते हैं तो हम भविष्य के मनुष्य प्राणी के आदर्शों का भी निर्धारण कर लेते हैं। हम पैगम्बरों के उपदेश के अनुसार जीवन जीने का प्रयास करते हैं, इसलिए हम एक वैसे पर्यावरण का निर्माण भी करते हैं जहाँ आनुवांशिक अनुकूलन का अनियमित रहना बन्द हो जाता है तथा यह निश्चित आदर्शों की तरफ मुड़ जाता है। अतएव, एक अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि गांधी सरीखे पैगम्बर मानव प्राणियों के उस कच्चे माल को जिससे कि वे बने होते हैं, छेनी से काट-काटकर अलग करते हैं और तराशते हैं, क्योंकि मनुष्य प्राणी अपने नृ-कपि पूर्वजों के वंशज हैं या इस पूर्वज परम्परा को और पीछे भूवैज्ञानिक क़ाल तक ले जाएं तो उस महासागरीय कीचड़ सरीखे जीव के वंशज हैं जिससे मनुष्य प्राणी का उद्‌गमन हुआ था।

सन्दर्भ

1. महात्मा गांधी, रोम्या रोलां, कैथरिन डी. ग्रोथ द्वारा फ्रांसीसी से अनुवादित, पब्लिकेशन डिवीजन, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, 1976 (जॉर्ज एलन एंड उनविन द्वारा पहली बार प्रकाशित, 1924) पृष्ठ 20।
2. गांधी एंड द थियोसोफिस्ट्स, जेम्स डी. इंट स्टडीज ऑन गांधी में संकलित, संपा., वी.टी.पटेल, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लि., न्यू देल्ही, पृष्ठ 167-68।
3. लुईस फिशर, गांधी, हिंज लाईफएंड मेसेज फॉर द वर्ल्ड, सिग्नेट बुक, न्यू अमेरिकन लाइब्रेरी, 1954, पृष्ठ 131।
4. लुईस फिशर द्वारा द लाईफ ऑफ महात्मा गांधी में उद्धृत, हार्पर एंड रॉ पेपरबैक, 1983, पृष्ठ 343-44।
5. एन एथीस्ट विद गांधी में गोरा द्वारा उद्धृत (जी. रामचन्द्र राव), नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद-17 (1971, प्रथम प्रकाशन 1951) पृष्ठ 31।
6. पूर्वोक्त, पृष्ठ 44।
7. लुईस फिशर द्वारा द लाईफऑफ महात्मा गांधी में उद्धृत, पृष्ठ 10।
8. क्लाउड लेवी स्ट्रॉस, ट्रिस्टे ट्रॉपिक, जॉन एंड डॉरीन वाइटमैन द्वारा फ्रांसीसी से अनुवादित, कंगारू बुक, न्यूयार्क 1977 (प्रथम प्रकाशन, 1955) पृष्ठ 153।
9. अल्बर्ट कामस, द रिबेल, एन्थोनी बोअर द्वारा अनुवादित, पेंग्विन बुक्स 1965, पृष्ठ 19।
10. लुईस फिशर द्वारा द लाइफऑफ महात्मा गांधी में उद्धृत।

नीतिपरायणता के खतरे

पूर्व के अध्यायों में हमने स्रोतों एवं समाज में नैतिक मूल्यों की अपरिहार्य भूमिका तथा इस क्षेत्र में गांधी के अनूठे योगदान का वर्णन किया है। लेकिन, वे उपदेश जो इतने तर्कसंगत लगते हैं उन्हें वर्तमान समय के विशेष रोग के रहते वास्तविक जीवन के व्यवहार में ढाल पाना काफी कठिन हो सकता है। इसका सबसे पहला कारण तो यह है कि ये नैतिक मूल्य जो बिल्कुल आत्म-अस्वीकार का अनुमोदन करते हैं, उन साधारण प्राणियों के लिए गढ़े गये हैं जिनके पास सन्तत्व की कोई विशेष महत्त्वाकांक्षा नहीं है। यह परेशानी इस तथ्य से स्वराघातांकित होती है कि नैतिक उपदेशों में सदैव चरम स्थितियों को प्राप्त करने की प्रवृत्ति होती है। इसका कारण यह है कि नैतिक उपदेश कोरी कल्पनाएँ हैं और इन्हें वास्तविक जीवन-स्थितियों की जंग को साफ कर निकाला जाता है। इसलिए, जब किसी को इन सिद्धान्तों को व्यवहार में लाना होता है तो गम्भीर प्रतिवाद उत्पन्न हो जाते हैं। मानव जीवन एक जटिल कार्य है तथा प्राय: वही सिद्धान्त भिन्न परिप्रेक्ष्यों में देखने पर विरोधी स्थितियों का समर्थन कर रहा जान पड़ते हैं। इसलिए, जब कोई इन सिद्धान्तों को व्यवहार में लाने का प्रयास करता है जो प्राय: पसन्द का गम्भीर धर्मसंकट पैदा हो जाता है। गांधी को स्वयं अनेक अवसरों पर ऐसे प्रतिवादों का सामना करना पड़ा, और यह नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने हमेशा उनको अपने या दूसरों के मार्ग निर्देशन हेतु सन्तोषप्रद ढंग से सुलझा लिया।

उदाहरणस्वरूप, इसी तरह का एक प्रतिवाद था जब गांधी दक्षिण अफ्रीकी सरकार की तरफ से जुलू युद्ध में शामिल हुए थे। यह कोई युद्ध नहीं था; यह असहाय जुलू लोगों के विरुद्ध महज एक दंडात्मक अभियान था। यह सच है कि गांधी ने केवल चिकित्सकीय दलों में अपनी सेवा दी और प्राय: उन्होंने घायल जुलूओं की मरहम-पट्टी और देखभाल करने का काम किया। यदि गांधी उनकी देखभाल नहीं करते तो वे उपेक्षित ही रह जाते। लेकिन, वह युद्ध में

शामिल थे, तथापि जुलूओं के एक सहकर्मी थे। इसी तर्ज पर बोअर युद्ध में बोअरों के विरुद्ध तथा प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनों के विरुद्ध ब्रितानी खेमे से जुड़ने का उनका निर्णय था। यहाँ भी वह चिकित्सकीय दलों में ही थे। इन युद्धों में शामिल होने पर उनके अनेक शान्तिवादी प्रशंसकों ने उनकी आलोचना की, क्योंकि वह अहिंसा के पुजारी थे और इस आधार पर उन्हें सभी युद्धों का विरोध करना चाहिए था। बी.डे. लाइट (जिसने एक फ्रांसीसी पत्रिका में इस विषय को उठाया था) को 13 सितम्बर, 1928 के 'यंग इंडिया' के अंक में गांधी द्वारा दिया गया जवाब इस स्थिति को सोदाहरण समझाता है। वह लिखते हैं :

"जीवन बलों की अधिकता से नियन्त्रित होता है। यदि कोई अपने कार्यों के मार्ग को केवल एक सामान्य सिद्धान्त से जिसका अनुप्रयोग एक दिये हुए क्षण में इतना ज्यादा स्पष्ट होता है कि उसे क्षण प्रतिबिम्बन की भी जरूरत नहीं होती है, निर्धारित कर ले तो यह निर्विघ्न यात्रा होगी। लेकिन मुझे वैसा एक भी काम याद नहीं है जिसका निर्धारण इतनी आसानी से हुआ हो।

"पक्का युद्ध-विरोधी होने के नाते मैंने कभी स्वयं को विध्वंसक अस्त्रों के प्रयोग का प्रशिक्षण नहीं दिया है, जबकि मेरे पास इस तरह का प्रशिक्षण लेने का भरपूर अवसर उपलब्ध था। शायद इसी वजह से मैं मानवीय जीवन के प्रत्यक्ष विध्वंस से बच निकला। लेकिन, जहाँ तक मैं बल पर आधारित सरकार की व्यवस्था के अन्तर्गत रहा और स्वेच्छा से उन अनेक सुविधाओं और विशेषाधिकारों जो इसने मेरे लिए पैदा किया था, में हिस्सा लिया, मैं युद्ध में उलझी सरकार को अपनी क्षमता की हद तक सहयोग करने के लिए तब तक बाध्य था जब तक कि मैंने सरकार का असहयोग करना शुरू नहीं कर दिया और अपनी क्षमता-भर सरकार द्वारा दिये गये विशेषाधिकारों का त्याग नहीं कर दिया...।

"अहिंसा ज्यादा रहस्यमय तरीके से काम करती है। प्राय: एक मनुष्य के कार्य अहिंसा के विशेष पदों में विश्लेषण को चुनौती देते हैं। समान रूप से उनका कार्य देखने में हिंसा जैसा लग सकता है जबकि वह शब्द के सबसे सटीक अर्थ में बिल्कुल अहिंसक होता है और आगे चलकर ऐसा ही पाया जाता है। कुल मिलाकर तब मैं अपने आचरण का जो दावा कर सकता हूँ, वह यह कि, यह उद्धृत घटनाओं के अन्दर था, अहिंसा के हित में प्रवृत्त था।

घिनौने राष्ट्रीय या अन्य हितों का कोई विचार नहीं था। मैं कुछ अन्य हितों के त्याग पर राष्ट्रीय या किसी अन्य हितों को बढ़ावा देने में विश्वास नहीं करता हूँ।''

जैसा कि गांधी ने स्वयं इसका वर्णन किया है, जब नैतिक विषय सम्मिलित हों तो अपना मार्ग चुनने की परेशानी किसी के लिए स्पष्ट रूप से बड़ी होती है। लेकिन, उनके द्वारा दिया गया यह स्पष्टीकरण सन्तोषप्रद नहीं है और बी.डे लाइट ने अपने लेख में निम्नलिखित बातों का उल्लेख करते हुए गांधी के जवाब का पूर्वानुमान किया था :

''उदाहरण के तौर पर मैं मानता हूँ कि कोई सरकार - मेरी बहुत ज्यादा सेवा करती है– तो क्या मैं नैतिक दृष्टिकोण से उस हाल में भी उसका सहयोग करने के लिए बाध्य हूँ जब वह बुरी तरह काम कर रही हो, अप्रिय वारदात एवं जान से मारने का काम कर ही हो, ऐसी योजना बनाती हो जो धर्म या मानवीयता के सिद्धान्तों के बिल्कुल विरुद्ध हो? नहीं, यह बिल्कुल विपरीत कार्य होगा। मैं उसके प्रति जितना ज्यादा कृतज्ञ महसूस करता हूँ, उसका शैतानी काम उतना ही ज्यादा बढ़ता जाता है। मेरे निजी आचरण से सर्वथा अलग, क्या यह मेरा कर्तव्य नहीं बनता है कि मैं उसको गलत कार्य करने से यथासम्भव रोक सकूँ?''

वस्तुत: यह विश्व की वह रहस्योद्घाटक स्थिति थी जिसने अन्ततः इस धर्मसंकट का समाधान करने में मदद की। तब तक प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हो गया था, 'न्यायसंगत युद्ध' और 'अन्यायसंगत युद्ध' अप्रचलित पड़ गया था। इसके साथ ही दुनिया सम्पूर्ण युद्ध के उस युग में प्रवेश कर गयी है जो सभी अन्य मूल्यों को अपने प्रभावशाली अभियोजन का मातहत बना देता है। अन्तर्विवेक और दृढ़विश्वास वाले मनुष्य के लिए इन युद्धों का खंडन करने का निर्णय अब उस तरह के धर्मसंकट को सम्मिलित नहीं करता है जिसका गांधी ने पहले सामना किया था। गांधी को अपना विचार भी दूसरा विश्वयुद्ध शुरू होने के समय तक काफी बदल गया था। उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि भारत को न केवल ब्रितानी युद्ध का समर्थन करने से इनकार कर देना चाहिए, बल्कि अपने बचाव के लिए जापान के विरुद्ध सशस्त्र प्रतिरोध के मार्ग का खंडन भी करना चाहिए। इस विषय पर उनकी काँग्रेस कार्यसमिति के विचार से भारी असहमति थी। 01 जुलाई 1940 के 'हरिजन' में उन्होंने

अन्य बातों के अलावा निम्नलिखित बातें लिखी थीं :

''विचार का दूसरा प्रश्न आन्तरिक अव्यवस्था और बाहरी आक्रमण की तैयारी करने के सम्बन्ध में है। निजी सेनाओं का गठन बद से भी बदतर होगा। इसकी कभी अनुमति नहीं दी जाएगी... इसलिए, वे लोग जिनका विश्वास इस बात में है कि भारत को सशस्त्र बल रखने की जरूरत है, बहुत जल्दी ही उनका नाम ब्रितानी झंडे के अन्तर्गत सूचीबद्ध हो जाएगा। यह उक्त विश्वास का तर्कसंगत परिणाम है। कार्य–समिति ने इस विषय पर निर्णय ले लिया है। यदि यह अनुपालनार्थ है तो मुझे इसमें थोड़ा सन्देह है कि उन्हें तत्काल काँग्रेसजनों को सामान्य तरीके से सूचीबद्ध होने के लिए सलाह देनी होगी। इसका मतलब होगा, शीघ्र स्वतन्त्रता के नारे की समाप्ति एवं उस सच्चे किस्म की अहिंसा की भी समाप्ति। मैं अन्तिम साँस तक आशान्वित रहूँगा कि भारत, ब्रिटेन, मानवता और काँग्रेसजन अपने लिए दृढ़ता से उन चीजों को अस्वीकार करेंगे जिनका उक्त दो उद्देश्यों में किसी की प्राप्ति हेतु शस्त्र के प्रयोग से वास्ता है। मुझे इस बात का मजबूती से अहसास होता है कि मानवता का भविष्य काँग्रेस के हाथों में है– ईश्वर काँग्रेसजनों का सही कदम उठाने का साहस और विवेक प्रदान करे।''

उसी तरह, उनकी आधुनिक औद्योगिकवाद की समीक्षा जो एक समय हास्यास्पद कालदोष के रूप में प्रकट हुई थी और इतिहास चक्र को पीछे घुमाने का एक प्रयास थी, उन अधिकांश लोगों के लिए अब स्वीकार्य हो रही है जिन्हें विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र का अग्रदूत माना जा सकता है। सही समय पर, यदि हम जिन्दा रह गये तो देखेंगे कि ये विचार जीवन की माँगों के अनुरूप उचित संशोधनों के साथ स्वीकार और परिशुद्ध किये जाएँगे। यही तरीका है कि सामाजिक रूप से नये पैगम्बर के विचार जो पहले सामूहिक जीवन के लिए गम्भीर धमकी के रूप में प्रकट हुए थे, बाद में सबसे ज्यादा स्वाभाविक और सुखद होने के तौर पर स्वीकार किये गये।

किन्तु, जिस वक्त वृहत्तर सामाजिक महत्त्व के साथ कुछ विचारों को स्वीकार किया जाता है तथा सामाजिक सिद्धान्त में मिलाया जाता है, लोगों के व्यक्तिगत आचरण का एक बड़ा हिस्सा आत्मसात करने के अयोग्य बना रहता है। और वह एक गम्भीर कमजोरी रह जाती है जो मानवीय आचरण के सामान्य सुधार को अवरुद्ध करती है।

सामाजिक सम्बन्धों का जिस तरह से विकास होता है, उस तरह से मनुष्य की प्रवृत्तियों का विकास नहीं होता है और अनेक मौलिक आवेगों और रुझानों की उन पर उनके जीवन-भर पकड़ बनी रहती है। उनके लिए उनकी रोकथाम करना तथा पैगम्बर को जितनी बड़ी विनम्रता चाहिए, विनम्रता की उस ऊँचाई तक स्वयं को उन्नत करना कोई आसान काम नहीं है। इसलिए, वास्तव में यह होता है कि पैगम्बर आदर्शों का निर्धारण करते हैं और उस दिशा का भी, जिसे इसको पकड़नी होती है। प्रत्येक मनुष्य इन आदर्शों की तरफ अपनी योग्यता के अनुसार जितनी दूर जा सकता है, उतनी दूर जाता है। लेकिन, पैगम्बरों के सिवाय शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति इन आदर्शों के करीब पहुँच पाता है। अधिकांश व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत जीवन में पाशविक प्रवृत्तियों से ही जुड़ा रह जाता है। लेकिन विचारों को उस हद तक स्वीकार किया जाता है जिस हद तक प्रत्येक व्यक्ति पैगम्बर के उपदेशों के अनुरूप दूसरे लोगों से अपेक्षा करता है। इसलिए, पारस्परिक प्रतिबन्ध का भय व्यक्ति के प्रकट आचरण पर कुछ रोक अवश्य लगाता है और उस आन्तरिक संयम को जिसे कि हम अन्तर्विवेक कहते हैं, अभेद्य बनाने में भी मदद करता है। यह सामाजिक भूमिका को निर्धारित करने में मदद करता है। शायद चूँकि बाद की पीढ़ियों की भूमिकाएँ सामाजिक रूप से लाद दी जाती हैं, इसलिए लोगों द्वारा धारण की जाने वाली लोक भंगिमाओं में काफी आडम्बर रहता है। आदर्शों की अनुरूपता की उपयोगिता एक समय बाद सन्देहास्पद मूल्य की हो जाती है, क्योंकि आदर्श बिल्कुल रवायती बन जाता है और वह बहुत तरह की विकृतियों को स्वीकार कर लेता है। इसलिए नियम को स्वीकार करते वक्त सामान्य जन का इरादा कठोरताओं से भटक जाने का होता है। दूसरी तरफ, पैगम्बर उन्हें नियमों द्वारा निर्धारित भूमिकाओं में दृढ़ता से जकड़े हुए देखना चाहता है। जब आदर्शों का उत्साह फहराने लगता है, संस्थानीकरण आवश्यक हो जाता है और लोगों को अनुरूप बनाने के क्रम में जाति बहिष्करण सरीखी बुरी प्रथा का आश्रय ले लिया जाता है।

इस मामले में अपनी समस्त अनुकम्पा के साथ गांधी धर्मन्यायाधिकरण सरीखा कठोर थे। एक बार जब उनके ध्यान में यह बात लायी गयी कि उनके आश्रम की एक महिला साथिन की बहुत सारे पुरुष सहकर्मी तारीफ कर रहे हैं तो उन्हें उस महिला एवं उसके प्रशंसकों को पाप के रास्ते से बचाने हेतु उस

महिला का बाल मुड़वा देने में कोई हिचक नहीं हुई। जैसा कि पूर्व में ही इसका सम्बन्ध स्थापित किया जा चुका है, अधिकांश मामले में गांधी अपने प्रभार के व्यक्तियों के पतन हेतु स्वयं प्रायश्चित करते थे। लेकिन, नैतिक राह में वह किसी तरह की शिथिलता बर्दाश्त नहीं करते थे। पैगम्बरों के साथ समस्या यह होती है कि उनकी अनुकम्पा पूरी तरह आत्मा के संग होती है और मनुष्य की इन्द्रियों की माँगों के साथ कुछ नहीं रहता है। लेकिन, मनुष्य देहरहित आत्मा नहीं होता है तथा सिवाय उन दुर्लभ व्यक्तियों के जिनकी इन्द्रियजनित क्षुधाएँ पूरी तरह उन्नत या विकृत हो गयी हैं, शेष सभी व्यक्ति नरक यातना की धमकी के बावजूद अपनी तुष्टि की तलाश करते हैं। लेकिन, पैगम्बर अपने विचारों के प्रति दृढ़ होते हैं। वे किसी प्रकार का समझौता नहीं करते हैं। यदि वे समझौता का प्रयास करते हैं तो उनके शब्दों से वह प्रेरित वलय गायब हो जाता है जो अकेले सन्देहरहित आज्ञाकारिता को नियन्त्रित कर सकता है। शायद, गांधी की माँगें अनेक अन्य पैगम्बरों की तुलना में काफी कठोर भी थीं। यद्यपि वह जिन्दा रहे और इस दुनिया को सुधारने का काम किया, उनका सम्पूर्ण समर्पण ईश्वर की प्राप्ति के लिए था। मानवता की सेवा उनका मार्ग था तथा उनके लिए यह ईश्वर को प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग था। इस सन्दर्भ में वह कितने बड़े अभियाचक थे इसे हम बेहतर ढंग से अहिंसा का पालन करने के इच्छुक व्यक्तियों को उनके द्वारा सुझाये गये ब्रह्मचर्य के नुस्खे से समझ सकते हैं। वह लिखते हैं :

''यदि हम इसे अहिंसा के दृष्टिकोण से देखते हैं तो पाते हैं कि अहिंसा की पूर्णता अत्यन्त नि:स्वार्थता के बिना असम्भव है। अहिंसा का अभिप्राय है, शाश्वत प्रेम। यदि एक पुरुष अपना प्यार एक औरत को देता है या एक औरत एक पुरुष को, तो इसके अलावा कौन-सी चीज सारी दुनिया के लिए बच जाती है? इसका सीधा-सा अर्थ है, 'हम दोनों प्रथम आ जाते हैं तथा उनमें से शेष सभी को शैतान ग्रहण कर लेता है।' चूँकि एक विश्वासी पत्नी अपने पति के लिए सब कुछ न्योछावर करने के लिए तैयार रहती है तथा एक विश्वासी पति अपनी पत्नी के लिए सब कुछ न्योछावर करने के लिए तैयार रहता है, इसलिए स्पष्ट है कि ऐसे लोग शाश्वत प्रेम की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकते हैं अथवा सभी मनुष्यों को अपने निकट सम्बन्धी के रूप में नहीं देख सकते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने प्रेम को चहारदीवारी से घेर दिया है। उनका परिवार

जितना ही बड़ा होता है वे उतना ही शाश्वत प्रेम से दूर होते हैं। इसलिए, वह जो अहिंसा के नियम का पालन करेंगे, शादी नहीं कर सकते हैं, वैवाहिक बन्धन के बाहर तुष्टि के बारे में बात नहीं कर सकते हैं।

''तब उनके बारे में क्या, जो पहले से ही विवाहित हैं? क्या वे कभी सत्य का अहसास नहीं कर सकते हैं? क्या वे सभी मानवता की वेदी पर अपना सर्वस्व अर्पित नहीं कर सकते हैं? उनके लिए एक उपाय है। वे एक अविवाहित जैसा व्यवहार कर सकते हैं। वे जिन्हें यह सुखद हाल नसीब हुआ है, मुझे पुष्ट करने के लायक हो सकते हैं ...विवाहित जोड़े यदि स्वयं को भाई-बहन सरीखा मान लें तो वे शाश्वत सेवा के लिए आजाद हैं। संसार की सारी औरतें अपनी ही बहनें, माताएँ या बेटियाँ हैं, यह विचार एक व्यक्ति को शीघ्र नम्र बना देगा तथा उसके बन्धन को काट देगा ...''

यह माँग स्पष्ट रूप से काफी बड़ी है। वस्तुत: इस चीज की माँग की जाती है कि अहिंसा के पुजारी को गहरी व्यक्तिगत आसक्ति नहीं रखनी चाहिए क्योंकि यह शाश्वत प्रेम के मार्ग में अवरोध पैदा करती है। इस सन्दर्भ में, हालाँकि, व्यक्तिगत आसक्ति को यदि मुख्य अड़चन माना जाए तो किसी की पत्नी को बहन मान लेने से व्यक्तिगत आसक्ति खत्म करने में मदद नहीं मिलती है। बहन या बेटी से भी अपनी पत्नी सरीखी गहरी व्यक्तिगत आसक्ति हो सकती है। लेकिन, यह विचार कि व्यक्तिगत आसक्ति के अभाव में ही एक व्यक्ति सभी मनुष्यों से प्यार कर पाता है, त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। इसी तरह, व्यक्तिगत आसक्ति के जरिये व्यक्ति धीरे-धीरे अपना अहंकार खोता है तथा अपनी चिन्ता को अन्य मानव प्राणियों की तरफ मोड़ता है। दूसरे व्यक्ति का यह प्रेम या तो एक ही व्यक्ति में संकुचित हो जा सकता है या पूरी मानवता को परिवृत्त करने के लिए खुल जा सकता है। गहरी व्यक्तिगत आसक्ति के अनुभव के बगैर शाश्वत प्रेम का आदर्श खाली अमूर्तता के साथ महज एक प्रेमान्धता है और निश्चित परिस्थितियों के तहत यह तानाशाही व्यवस्था को बढ़ावा दे सकता है। वैसे समाज में जहाँ व्यक्तिगत प्रेम और निष्ठा की कमी होती है तथा लोगों के पास का एकमात्र बन्धन कुछ अमूर्तता के साथ रहता है जिसे एक संस्था द्वारा संकेतित किया जाता है, लोगों में उस संस्था द्वारा आसानी से हेर-फेर किया जा सकता है। सभी तानाशाही व्यवस्थाओं ने माँग की है कि राज्य द्वारा निर्धारित आदर्शों के बन्धन से व्यक्तिगत बन्धन को

प्रतिस्थापित किया जाए। एक उत्कृष्ट बन्धन ईश्वर के साथ भी खतरनाक हो सकता है क्योंकि ईश्वर मनुष्यों तक पृथ्वी के अपने स्वघोषित एजेंटों के माध्यम से पहुँचते हैं। सभी संस्थागत धर्मों का इतिहास यह बतलाता है कि ईश्वर के ये एजेंट लोगों के विश्वास का दुरुपयोग करने के लिए तत्पर रहते हैं।

इस समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। पैगम्बर का सम्बन्ध प्रथमत: सामाजिक संसक्ति और उत्तरजीविता को प्रभावित करने वाली अपने समय की नैतिक समस्याओं पर जोर डालने से रहता है तथा उनके उपदेश इस प्रसंग में प्रासंगिकता हासिल कर लेते हैं। लेकिन, पैगम्बर भी एक मनुष्यप्राणी ही होते हैं, लिहाजा उनमें भी विशुद्ध व्यक्तिगत सनक और अभिरुचि हो सकती है। उनके उपदेशों में ये चीजें मिली हुई हो सकती हैं और ये विशुद्ध व्यक्तिगत प्रकृति की अनावश्यक संहिताओं को लाद देती हैं। उदाहरणस्वरूप, गांधी की सेक्स सम्बन्धी मनोग्रस्ति इस बाद वाली कोटि से ही सम्बन्धित थी। पारम्परिक धर्मों में अनाचार, व्यभिचार का निषेध तथा दूसरी तरह के सेक्स सम्बन्धी नियन्त्रण सामाजिक संसक्ति की रक्षा करने में स्पष्ट रूप से उपयोगी थे, क्योंकि सेक्स सम्बन्धी प्रतिद्वन्द्विता सामाजिक वैमनस्य का हमेशा एक बड़ा कारण रहा है। लेकिन, समाजवार और समयवार सेक्स नैतिकता में व्यापक परिवर्तन यह दिखलाता है कि इस मामले में कोई चरम बिन्दु नहीं हो सकता है। सेक्स सम्बन्धी ज्ञान का प्रसार पहले वाली अनेक वर्जनाओं को अब हास्यास्पद भी बना देता है। लेकिन, जैसा कि हम देख चुके हैं, गांधी सभी तरह के सेक्स सम्बन्धों पर पूर्ण रोक लगाने का प्रयास करते हैं, विशेषकर उन लोगों पर जो सामाजिक कार्य करना चाहते थे। निर्मल कुमार बोस अपनी पुस्तक 'माई डेज विद गांधी' में इस ओर इशारा करते हैं कि गांधी में इस तरह का भाव उनके विचित्र व्यक्तिगत अनुभव से उपजा था, अर्थात सेक्स में रत होने के कारण अपने मरणासन्न पिता के नजदीक नहीं रह पाने के उनके गहरे अपराध-बोध से उपजा था। तभी से वह हमेशा सेक्स को एक गम्भीर पाप के रूप में देखते थे। इस मामले में काफी दृढ़ थे और भारत के उस निजी अतीत के अनुभव को भी नजरअन्दाज करते थे जहाँ पुराणों तक में वर्णित है कि महान ऋषि-मुनि भी वासना का प्रतिरोध नहीं कर पाये थे। सामान्यजनों के लिए इस तरह का शासन विहित करना, एक असम्भव माँग रखना था। इस

मनोग्रसण के कारण वह अपनी जिन्दगी के अन्त तक अपने ब्रह्मचर्य व्रत की जाँच करते रहे। निर्मल कुमार बोस एक गवाह के रूप में लिखते हैं कि इससे अनेक महिला सहकर्मी गहरी मनोवैज्ञानिक समस्याओं से घिर गयीं। अपराध-बोध का बहुत सामान्य और अपने अविकृत रूप में अहानिकर प्रवृत्ति से साहचर्य गम्भीर व्यक्तिगत एवं सामाजिक तनाव उत्पन्न कर सकता था।

हालाँकि, वास्तविक व्यवहार में पैगम्बर जिस वक्त चरम मानक निर्धारित करते हैं, लोग उनसे महज एक सामान्य दिशा ग्रहण करते हैं जिसके गिर्द वे केवल अपने गड़बड़ और गलत करने वाले मार्गों पर लँगड़ाकर चलते हैं। लेकिन, यह स्वयं उन्हें उबारने के लिए पर्याप्त साबित करता है, क्योंकि यह अपने मार्ग को सही करने में उनकी मदद करता है, अर्थात जैसा कि श्रद्धालु कहते थे : शैतान के मार्ग से हटकर भगवान के मार्ग पर जाओ। जब पैगम्बर के उपदेश बहुत अधिक माँग करने वाले होते हैं तो लोग या तो उनकी तरफ से मुड़ जाते हैं या उन्हें एक ऐसा रूप दे देते हैं जो पैगम्बरों का खंडन करता है तथा उनके अपने अकठोर मार्गों के अनुरूप होता है। इस तथ्य के मद्देनजर यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि मानवीय व्यक्तित्व एक आयामीय नहीं होता है, इसलिए नैतिक उपदेशक जो कठोर संयम लादना चाहते हैं उन्हें मानव प्राणी अस्वीकार कर देने का प्रयास करता है। उस संयम का केवल नैतिक आयाम से वास्ता होता है। मानवीय व्यक्तित्व के वैज्ञानिक और कलात्मक आयाम मनुष्य की उन छवियों पर जिनकी नैतिकतावादी रचना करने का प्रयास करते हैं, प्रश्न करने और उसे बदलने का प्रयास भी करते हैं। नीतिवादियों की दुनिया, जबकि, नकाबों की एक दुनिया होती है (अर्थात ढलवा लोहे का नैतिक साँचा जिसमें मानवीय व्यक्तित्व निर्धारित होता है), कलाकार इस नकाब को उतारकर इसके पीछे के वास्तविक व्यक्ति को दिखलाना चाहते हैं।

नैतिकता की माँगों के अनुरूप लोग समाज में भूमिकाओं को धारण करने का प्रयास करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को आशा रहती है कि अनेक तरह के लोग प्रचलित सामाजिक नैतिक संहिता के तहत सौंपी गयी भूमिकाओं का सामाजिक रूप से निर्वाह करें अर्थात धार्मिक पुजारी की भूमिका, विश्वासी पति और पत्नी की भूमिका, कर्तव्यनिष्ठ पुत्र की भूमिका, नि:स्वार्थ नेता की भूमिका वगैरह। जब, वास्तविक जीवन-स्थितियों में, उनमें से कोई लोकप्रिय छवि को निभा पाने में असफल हो जाता है तो गुस्सा और दर्द होता है। दूसरी तरफ,

कला वास्तविक मनुष्य को प्रकट करने का प्रयास करती है तथा आदर्शीकृत व्यक्ति के वास्तविक जीवन के अँधेरे पहलू को उजागर कर नैतिकता की पकड़ को कमजोर करती है। चूँकि इस तरह के उद्घाटनों से मनुष्य की पवित्र छवि खंडित हो जाती है और वास्तविक मनुष्य हास्यास्पद और अप्राक्कथनीय बनकर सामने आता है। इस तरह, वह मॉडल पुरुष जो अन्य लोगों का आध्यात्मिक विकास कर सकते थे, एक खतरनाक पापात्मा बन जाता है। नीतिवादी मनुष्य को उस रूप में चित्रित करना है जैसा कि उसको होना चाहिए, जबकि कलाकार मनुष्य को उस रूप में चित्रित करना चाहते हैं जैसा कि मनुष्य रहता है या हो सकता है। दोनों, नीतिवादी और कलाकार सारांश तैयार करते हैं और दोनों के सारांश भिन्न प्रकृति के होते हैं। नीतिवादी केवल नैतिक आयाम पर विचार करते हुए चरित्र के सार तत्त्व का निर्माण करते हैं, जबकि कलाकार मनुष्य के अन्दर की किसी प्रवृत्ति को, यहाँ तक कि रुचियों और अभिरुचियों को भी ले सकते हैं, इन्हें परिशुद्ध कर सकते हैं तथा इनके गिर्द एक सम्पूर्ण जीवन-प्रणाली को गढ़ सकते हैं।

नीतिवादी सदाचारी मनुष्य की अस्वाभाविक छवि का निर्माण करते हैं क्योंकि वे स्वयं लिप्साओं के खतरों से मनोग्रस्त होते हैं, और अनेक विरुद्ध एक मजबूत दीवार खड़ी करना चाहते हैं। यह सदाचारी मनुष्य स्थायी रूप से बुराई के सर्व आलिंगनकारी तत्त्वों से खुद की तथा दूसरों की रक्षा करने के लिए चौकन्ना रहता है। यह चिन्ता इतनी जबर्दस्त होती है कि अच्छे और बुरे के बीच का संघर्ष जीवन का कोई भी भाग इसके बाहर नहीं छोड़ता है। किसी भी तरह की छूट तथा सुरक्षा में किसी भी तरह की कमी खतरनाक होती है। एक गलत कदम पाप के प्रतिवेशी जीवन से सदियों के कठिन प्रयासों के माध्यम से उठायी नैतिकता को खत्म कर दे सकता था। इसी भय के कारण गिरजाघर और धर्मन्यायाधिकरण अस्तित्व में आये। नीतिवादियों के अनुसार, चूँकि असहाय मनुष्य इतना निर्बल होता है कि वह इन लिप्साओं के विरुद्ध खड़ा नहीं हो पाता है और ये लिप्साएँ उसे नीतिपरायणता के मार्ग से विचलित करने का प्रयास करती हैं। कला में उसकी अपनी विरोधी किस्म की अतिशयोक्तियाँ होती हैं। यह मनुष्य की प्रवृत्तियों के गिर्द, यहाँ तक कि छोटी मार्गरक्षा प्रवृत्तियों के गिर्द जिस जीवन को बुनती है, वह अपना तर्काधार और प्रबलता को विकसित करता है तथा इसकी कल्पनात्मक दुनिया में अच्छे और

बुरे का अमिलन अपना अर्थ खो देता है। इस दुनिया में नैतिक मापदंडों की प्रासंगिकता समाप्त हो जाती है। इनकी जगह एक स्वायत्त सौन्दर्यशास्त्रीय मानक आ जाता है जिसे केवल आन्तरिक संसक्ति और रूप की जरूरत होती है। कला के इस तरह के कामों को अच्छे या बुरे के रूप में (नैतिक आचरण पर उनक प्रभाव का विचार करते हुए) घोषणा करने की जगह कोई व्यक्ति इसे महज सुन्दर या कुरूप कहना चाहेगा।

कला और नैतिक सिद्धान्त के बीच का यह विलगाव इतना महत्त्वपूर्ण है कि महान धार्मिक कवि टी.एस. इलिएट इसे स्वीकार करना आवश्यक समझते हैं। आई.ए. रिचर्ड ने उनकी कविता 'वेस्टलैंड' पर आरोप लगाया था कि इसने कविता और सर्वविश्वास के बीच विरोध उत्पन्न कर दिया है। इस आरोप के जवाब में टी.एस. इलिएट ने लिखा :

"ऐसा लगता है कि मैं अपनी आलोचनाओं में सबसे शुद्ध विचार को व्यक्त करता हूँ और कविताओं में कुछ नहीं करता बल्कि उन विचारों का उल्लंघन करता हूँ। इस तरह, दोहरी भूमिका में दिखता हूँ, दोहरी भूमिका न भी हो तो एक तह चढ़ाई हुई भूमिका में नजर आता हूँ... मैं कहना चाहता हूँ कि गद्य लिखने के लिए गद्यकार के दिमाग में किन्हीं आदर्शों का रहना अनिवार्य है, लेकिन कविता लिखने के लिए यह जरूरी नहीं है, इसमें तो केवल यथार्थ का चित्रण होता है। मैं पूछना चाहता हूँ, धार्मिक कविताएँ इतनी खराब क्यों होती हैं... ज्यादा सोचने पर दिखता है कि ऐसा धार्मिक कपट के कारण होता है... वे लोग जो भक्ति कविता लिखते हैं वे हमेशा उसी चीज को लिख रहे हैं जिसे अनुभव करना चाहते हैं, न कि जिसे अनुभव करते हैं।"

इस स्वीकारोक्ति में हमें वास्तविक धर्मसंकट का स्रोत भी मिल जाता है। पैगम्बरों और सन्तों से भिन्न, अधिकांश अन्य लोग अपने व्यक्तित्व को नीतिपरायणता के एकल आयाम में परिणत करने हेतु अपनी प्रकृति की अनेक माँगों को रोकते नहीं हैं। नीतिवादियों का यह भय बिल्कुल सही है कि ये माँगें हमेशा सद्गुण के मार्ग से भटका देने के लिए उनके हृदय पर जोर डालती रहती हैं। इन माँगों के पास अपना पुरस्कार होता है : ये अनेक तरह के सन्तोष दे सकती हैं। सवाल है, क्या सभी ऐसी माँगों का नियन्त्रण करना सम्भव या काम्य भी है? यह निर्णय वहाँ आसान है जहाँ इनकी हाथ से निकल जाने तथा उस तरीके से समाज का अतिक्रमण करने की प्रवृत्ति होती है जिस तरीके से

सामाजिक संसक्ति या अतिजीवन को खतरा पहुँचता है। लेकिन, इसके सिवाय यह कुछ अज्ञात निर्वाण की आशा में सांसारिक जीवन का अनावश्यक विगलन प्रतीत होता था। प्रायः लोगों के पास सामाजिक समरसता कायम रखने तथा न्यूनतम सुख के लिए शेष को घेरने हेतु पर्याप्त मात्रा में नैतिक उपदेश स्वीकार करने का तरीका होता है, व्यावहारिक नैतिकता शायद लोगों के भेदभाव सम्बन्धी उस जन्मजात बोध में उत्पन्न होती है जो उन्हें आवश्यक को चुनने एवं चरम की अनदेखी करने के योग्य बना देता है।

लोगों की प्रवृत्तियों को जानिए, संस्थागत धर्मों के पुरोहितों ने सदा ही आवश्यक समझौता किया है, अंशतः शायद इसलिए कि इसने स्वयं पुरोहितों को पैगम्बरों की कठोर संहिताओं से मुक्त किया तथा उन्हें सांसारिक आसक्तियों की बहुत छूट दे दी। शायद यही उनके त्वरित प्रसार और लम्बी उत्तरजीविता का राज था। इतिहासकार एच.ए.एल. फिशर ने इस घटना पर एक चालाकी भरी टिप्पणी की है। वह लिखते हैं : "अनन्य सिद्धान्त पर आधारित गिरजाघर मजबूत होता है, अनन्य नैतिकता में सीमित गिरजाघर कमजोर होता है। अनेक लोग जाँच दे सकते हैं। सद्गुण का जीवन नगण्य लोगों को ही नसीब होगा। सन्तों की सदस्यता में सीमित एवं पापियों को कुछ नहीं देने वाला गिरजाघर यूरोप को कभी विजय नहीं दिलाता।"

वस्तुतः ईसा मसीह ने जब पवित्र धर्मादेशों से ऊपर जीवन की माँगों को रखा तो उन्होंने स्वयं धार्मिक प्रेक्षणों की सख्तियों के विरुद्ध काफी रियायत दी। बाइबिल के नवविधान (मैथ्यू 12, 1-2) में इसे यूँ सम्बन्धित किया गया है : 'उस समय यीशू सैबथ (विश्राम दिवस) पर हरे-भरे खेतों में पहुँचे, उनके शिष्य भूखे थे और वे लोग अन्न की बाली तोड़ने लगे और उसे खाने लगे। लेकिन, जब फरीसियों ने इसे देख लिया तो वे यीशू से बोले, 'देखिए, आपके शिष्य वह काम कर रहे हैं जो सैबथ पर करना गैर-कानूनी है।' यीशू ने उनसे कहा, 'क्या तुम लोगों ने यह नहीं पढ़ा है कि डैविड जब भूखा था तो उसने और उसके साथ के लोगों ने क्या किया था, कैसे वह भगवान के घर में घुस गया और कैसे सबने उपस्थिति की रोटी खायी जो कि न तो उसके लिए न ही उसके साथियों के लिए कहीं से कानूनी था, यह तो केवल पादरियों के लिए ही कानूनन जायज था?"

भारतीय धर्मशास्त्रों में भी आचरण पर धार्मिक प्रतिबन्धों से ऊपर जीवन

की इस प्रमुखता को गहरे दु:ख (आपात धर्म) में कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इस रियायत को सामान्यतया उन अनेक स्थितियों को आच्छादित करने के लिए बढ़ाया जाता है जहाँ सुदृढ़ मानवीय भावनाओं और नैतिक आदेशों के बीच विरोध रहता है। यथार्थ जीवन की मनोवृत्ति नवोन्मेषी नैतिक सुधारों के अनुक्रमण से नैतिक तल के धीमे उन्नयन के साथ सम्पूर्ण नैतिक अनुरूपता की पराकाष्ठाओं और मानवीय आवेशों के आधिपत्य के बीच स्पन्दन करने की होती है।

यह विषय मध्यकाल में यूरोप के धर्मन्यायाधिकरण और वर्तमान में धर्मों के पुनरुत्थानवादी आन्दोलनों की भयावहताओं के दृष्टिकोण से काफी महत्त्वपूर्ण है। लोगों के व्यक्तिगत जीवन में किसी भी धर्म के उपदेशों को अक्षरश: सख्ती से लागू करने का प्रयास उनकी अनकही और अनावश्यक पीड़ा में प्रतिफलित हो जा सकता था। यह विशेषकर इस तथ्य के दृष्टिकोण से सही है कि नैतिक विचार से सम्बद्ध सटीक उपाय आसानी से सुलभ और लागू किये जाने लायक है, जबकि इन उपायों के पीछे का भाव केवल नगण्य धार्मिक आत्माओं के लिए ही स्पष्ट होता है। इसलिए, कट्टरपन्थियों के पास लोगों पर अपने द्वारा नियन्त्रित जीवन जीने का दबाव बनाने से खुद को रोकने हेतु कुछ नहीं रहता है, भले ही वह नियन्त्रण धर्म के मूल भाव के विरुद्ध ही क्यों न हो। जब तक नैतिक समादेशों को कला और साहित्य द्वारा सोदाहरण समझाये गये जीवन के अन्य विचार से लचीला नहीं बनाया जाता है, मानवीय जीवन में सन्तुलन का अभाव बना रहेगा, तथा यह बर्बरता के साथ-साथ समाप्त हो जाएगा।

सचमुच, इस तरह का भय रोम्या रोलां ने भी व्यक्त किया था जो लोगों का सख्ती से जीवन बदलने के गांधी के प्रयासों के महान प्रशंसक थे। पैगम्बर और कलाकार के बीच के स्वाभाविक विरोध को 1920 के आरम्भ में गांधी और रवीन्द्रनाथ टैगोर के बीच के विवाद से उस वक्त उजागर किया गया जब गांधी ने लोगों से चरखा अपनाने की अपील के साथ अपना असहयोग आन्दोलन शुरू किया था। हम नीचे रोलां की किताब से विवाद का एक अंश प्रस्तुत कर रहे हैं। अनेक जगहों पर आन्दोलन के दौरान प्रतीक के तौर पर विदेशी कपड़ों की होली जलायी गयी। दृष्टिकोण सम्बन्धी ऐसे विवाद की तीक्ष्णता और अपरिहार्यता इस बात से सामने आती है कि गांधी और टैगोर

एक-दूसरे के प्रशंसक थे तथा घनिष्ठ मित्र भी थे। साथ ही, टैगोर स्वयं विचारों से गहरे धार्मिक थे और देशभक्ति के गहरे बोध में रँगे हुए थे; उन्होंने 1905 में बंगाल विभाजन के समय 'सर' की उपाधि का त्याग कर दिया था। लेकिन, उन्हें राजनीतिक उद्देश्य के प्रति गांधी का सम्पूर्ण समर्पण गांधी के महान आध्यात्मिक मिशन की असफलता लगता था। गांधी ने तर्क दिया, 'यदि यह लगता है कि मैं राजनीति में हिस्सा ले रहा हूँ' तो यह केवल इसलिए है कि राजनीति आज हमें साँप की कुंडली की तरह चारों तरफ से घेरती है जिससे कोई कितना भी प्रयास करे, बाहर नहीं निकल सकता है। मैं उस साँप से लड़ने की कामना करता हूँ। मैं राजनीति में धर्म को प्रविष्ट कराने का प्रयास कर रहा हूँ।''[1]

इसका टैगोर ने जवाब दिया :

''हमें केवल उस नैतिक बल की जरूरत है जिसका महात्मा गांधी प्रतिनिधित्व करते हैं और दुनिया में एकमात्र वही इसका प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। यह कि, इतने बहुमूल्य खजाने को राजनीति के कमजोर जहाज पर निकाल देना तथा द्वन्द्वात्मक और उत्तेजक आवेशों की लहरों के नियमित कोड़े के अधीन कर देना, उस भारत के लिए एक गम्भीर दुर्भाग्य है जिसका मिशन आत्म-अग्नि से मुर्दों को जीवित करना है... नैतिक बल को बल में रूपान्तरिक करना अपराध है।''[2]

टैगोर उस भीड़ से भयभीत थे जो गांधी के चारों तरफ उमड़ पड़ी थी। वह भीड़ उस उत्कर्ष से लबालब थी जिसे गांधी ने सृजित किया था। वह इस नये जोश से स्वयं को अलग देखते हैं। वह कहते हैं, ''लेकिन चारों तरफ फैली इस बड़ी भीड़ में मैं कहाँ हूँ? और मुझे जो हल्ला सुनाई दे रहा है, उसे कौन समझ सकता है? यदि मैं एक गाना सुनता हूँ, मेरा सितार लय को पकड़ लेता है और मैं कोरस से जुड़ जाता हूँ क्योंकि मैं एक गायक हूँ। लेकिन, भीड़ के उन्मादी कोलाहल में मेरी आवाज गुम हो जाती है और मैं भौचक्का हो जाता हूँ...।'' और अन्तत: ''यदि तुम अपने समदेशियों के साथ उनके इतिहास के महानतम संकट की घड़ी में नहीं चल सकते हो, तो यह कहने में सावधानी बरतो कि वे गलत हैं और तुम सही हो। किन्तु, जनसाधारण में अपना स्थान छोड़ दो, अपने कवि कोने में वापस चले जाओ तथा विद्रूप और लोकापमान को झेलने के लिए तैयार हो जाओ।''[3]

इसके बाद स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार करने की बाबत टैगोर ने प्रश्न किया, "स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार करने का अभिप्राय क्या है? छात्र इनका किस चीज के लिए बहिष्कार करेंगे? अत्यधिक शिक्षा के लिए तो नहीं ही, अशिक्षा के लिए।"[4]

हम पूर्व में देख चुके हैं कि गांधी के लिए शिक्षा का बिल्कुल एक अर्थ था। उनके लिए शिक्षा आध्यात्मिक प्रशिक्षण थी और स्कूलों में जो शिक्षा दी जा रही थी, उसका उनके लिए कोई मूल्य नहीं था। वह उस तरह की शिक्षा एकदम नहीं चाहते थे। तथापि, गांधी अपने ऊपर लगे आरोप का जवाब देते हैं कि वह दुनिया की संस्कृति से भारतीयों को काटकर अलग करने का प्रयास कर रहे हैं।

उन्होंने लिखा :

"मैं नहीं चाहता हूँ कि मेरे घर की चारों तरफ से दीवारें खड़ी कर दी जाएँ और खिड़कियों को बन्द कर दिया जाए। मैं यह चाहता हूँ कि सभी जगहों की संस्कृतियों का प्रवाह यथासम्भव स्वतन्त्र रूप से मेरे घर में हो... लेकिन, मैं यह नहीं चाहता कि उस प्रवाह से मेरे पैर उखड़ जाएँ ... मेरा धर्म कारागृह का धर्म नहीं है। इसमें ईश्वर की सृष्टि की सबसे छोटी इकाई हेतु जगह है। लेकिन यह नस्ल, धर्म या रंग के अशिष्ट गर्व के विरुद्ध प्रमाण है।"[5]

टैगोर दुनिया का भ्रमण कर लौटे थे और विश्व संस्कृति को प्रोत्साहित करने के लिए एक संस्था की स्थापना करने पर विचार कर रहे थे, इसलिए वह गांधी के पश्चिमी सभ्यता के अस्वीकार के विचार एवं नये युग के उत्साह के प्रति सहानुभूति नहीं रखते थे। इस नये विश्वास के प्रति जो भीड़ उमड़ी थी, टैगोर उस भीड़ के उन्माद से चिन्तित थे और इसके बाद उन्होंने सौहार्द के आह्वान में लिखा :

"जब चिड़िया भोर में जगती है तो वह केवल भोजन के बारे में ही नहीं सोचती है। इसके पंख आकाश के आह्वान का जवाब देते हैं। इसका गल्ला आने वाले दिन का अभिनन्दन करने के लिए आनन्ददायक गानों से भर जाता है। नयी मानवता ने अपना आह्वान भेज दिया है। भारत इसका अपनी तरह से जवाब दे ... ऊषाकाल में हमारा प्रथम कर्तव्य उस सर्वशक्तिमान को याद करना है जो एक है तथा रंग या वर्ग के आधार पर अविभेद्य है, तथा अपने रूपान्तरित बलों से उस तरह की व्यवस्था करता है जैसा कि प्रत्येक की

आवश्यकताओं के लिए अनिवार्य है। हमें उस सर्वशक्तिमान की प्रार्थना करनी चाहिए जो हमारी समझ को एक करने हेतु बुद्धि प्रदान करता है।"[6]

गांधी ने हर उस परामर्श का मजबूती से खंडन किया जिसके अन्ध-अनुपालन का उन्होंने समर्थन किया था। लेकिन, उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि वह जिस चीज का तर्क दे रहे थे वह तत्काल भारत की बुराइयों का एकमात्र उपचार थी और अगला दिन ईश्वर के हाथ में था। इस मनोभाव का स्पष्ट विचार उनके इस शब्दों में मिल सकता है जिसे उन्होंने 'यंग इंडिया' (13.11.1921) में लिखा था :

"हमें निश्चय ही किसी व्यक्ति की परिरक्षा में अपने तर्क को नहीं छोड़ना चाहिए। प्रेम के प्रति अन्ध-समर्पण प्रायः निरंकुश शासक के कोड़े के सामने दबाव में किये गये समर्पण से ज्यादा अनिष्टकारी होता है। पशुवत मनुष्य के गुलामों को किसी चीज की नहीं बल्कि उस प्रेम की आशा है।

"जब मेरे लिए सब कुछ वे हैं जो भोजन के अभाव में मर रहे हैं, तो मेरे लिए एकमात्र स्वीकार्य धन्धा उन भूखों को भोजन देना है। भारत आग पर बसा एक घर है। यह भूख से मर रहा है क्योंकि इसके पास काम नहीं है कि कमाकर भोजन खरीद सके। खुल्ना भूख से मर रहा है। अर्पित जिले उत्तरोत्तर चौथे दुर्भिक्ष का सामना कर रहे हैं। उड़ीसा एक जगह है जो पुराने दुर्भिक्ष से ग्रस्त है : भारत रोज निर्धन हो रहा है। इसके पैरों का संचालन लगभग अवरुद्ध हो गया है। और यदि हम ध्यान नहीं देते हैं तो यह दम तोड़ देगा।

"जो लोग भूखों मर रहे हैं तथा बेकार हैं, उनके लिए ईश्वर काम और पारिश्रमिक के रूप में भोजन के वायदे में ही प्रकट होने का साहस कर सकते हैं। ईश्वर ने मनुष्य की रचना भोजन हेतु काम करने के लिए किया है और यह कहा है कि जिनके पास काम नहीं है, वे चोर हैं। हमें निश्चित तौर पर उन लाखों लोगों के बारे में सोचना चाहिए जो आज पशुओं से भी निम्नतर हैं और भूखों मरने की स्थिति में हैं। भूख ही वह तर्क है जो भारत को चरखे की ओर ले जा रहा है।

"कवि कल के लिए जीता है, वह हमें भी ऐसी सीख दे सकता है। वह हमारी चाहने वाली आँखों के सामने अल्लसुबह आकाश में ऊँची उड़ान भरने के साथ प्रशंसा के गीत गाने वाली चिड़ियों की खूबसूरत तस्वीर पेश करता है। चिड़ियों ने अपना दिन का भोजन कर लिया था तथा विश्राम किये उन पंखों के

साथ ऊँची उड़ान भर रही थीं जिनकी नसों में कल रात रक्त का संचार हुआ था। लेकिन, मुझे उन चिड़ियों को देखकर दु:ख हो रहा है जिन्हें शक्ति के अभाव में पंख फड़फड़ाने के लिए बहलाया भी नहीं जा सकता है। भारतीय आकाश के नीचे मानवीय पक्षी उस समय से भी कमजोर हो रहा है जब उसने अवकाश ग्रहण करने का बहाना बनाया था। लाखों लोगों के लिए यह एक स्थायी जागरण या स्थायी तन्मयता है। मैंने पीड़ित रोगियों को कबीर के गाने से खुश कर पाना असम्भव पाया है।

उन्हें काम करने दो कि वे खा सकें। 'मुझे क्यों सूत कातना चाहिए, मुझे भोजन के लिए काम करने की जरूरत नहीं है?' हो सकता है, यह सवाल किया जाए क्योंकि मैं वह खाता हूँ जो मेरा नहीं है। मैं अपने हमवतनों की लूटपाट पर जिन्दा हूँ। उस हर सिक्के के स्रोत का पता लगाओ जो तुम्हारी जेब में जाता है, तुम्हें उस सच्चाई का अहसास हो जाएगा जो मैं लिख रहा हूँ। प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से सूत कातना चाहिए। टैगोर को भी दूसरे व्यक्तियों की तरह यह काम करना चाहिए। उन्हें भी विदेशी कपड़ों को जला देना चाहिए जो आज का कर्तव्य है। आने वाले दिनों की देखभाल ईश्वर करेंगे। जैसा कि गीता में कहा गया है, सही करो।''[7]

इस जवाब में हम गांधी के आचरण में पर्याप्त अन्तर्दृष्टि देखते हैं। अन्य पैगम्बरों से भिन्न वह केवल साथी मानवप्राणियों को पीड़ा से मुक्त करने के प्रयासों के जरिये ईश्वर की तलाश करते हैं। उनके विचार का कठोर तत्त्व इन शब्दों में अभिव्यक्त है— 'वह स्वीकार्य रूप जिसमें ईश्वर प्रकट होने का साहस कर सकते हैं।' ये अन्तिम शब्द हैं जिनकी अनदेखी ईश्वर भी नहीं कर सकते हैं। इसके बाद एक माँग यह है कि किसी को किसी चीज के लिए, यहाँ तक कि प्रेम के लिए भी, अपने तर्क को छोड़ना नहीं चाहिए। और अन्तत: अन्य हैं अर्थात वे चीजें जो कुछ समय के लिए महत्तम चिन्ता के विषय हैं तथा जिसकी मनोवृत्ति अन्य चीजों को नजरअन्दाज कर देने की होती है या यह मानकर चलती है कि बाकी लोग समय पर किये गये सही कार्यों का स्वाभाविक तरीके से अनुसरण करेंगे।

हालाँकि, कुछ बिन्दुओं में नैतिकता का यह अपकर्षवाद सचमुच में हठधर्मिता को प्रोत्साहित करने वाला हो सकता है जैसा कि कविवर को इस बात का भय था। यद्यपि गांधी ने समय की माँग के अनुसार अकाट्य बातें कही थीं, फिर भी जीवन काफी जटिल है और एक से अधिक दिशाओं में अन्वेषण की आवश्यकता है। यह तथ्य नैतिकतावादियों के नुस्खे को रद्द नहीं करता है; बल्कि जीवन को सहनीय बनाने तथा प्रचुरता हासिल करने के लिए इसे जीवन के अन्य आयामों से अनुपूरकीकरण की जरूरत है। शायद समय की माँग के अनुसार पैगम्बर नियन्त्रणों या समादेशों में परिवर्तन कर दें, लेकिन पैगम्बर के एक बार प्रस्थान कर जाने के बाद अनुयायियों के पास पैगम्बर के शब्दों का अनुसरण करने के सिवाय कोई विकल्प नहीं रहता है। चूँकि पैगम्बर अपनी नैतिक अन्तर्दृष्टि पर सुलिपिबद्ध आधारवाक्यों इत्यादि के साथ तार्किक विवेचन के जरिये नहीं पहुँचते हैं— यद्यपि उनके विचारों से हमेशा एक तर्कशक्ति बाद के सोच के रूप में सम्बद्ध रहती है— इसलिए, अनुयायीगण को क्षति पहुँचती है। दर्शनशास्त्र के स्कूल में जैसा होता है उससे भिन्न उनके पास पथ-प्रदर्शक के रूप में विचार की कोई प्रणाली नहीं होती है। इसलिए, पैगम्बर के शब्दों में कोई भी अपपरिवर्तन करना अपधर्म हो जाता, क्योंकि एक पैगम्बर के नियन्त्रणों या समादेशों को केवल एक दूसरा पैगम्बर ही बदल सकता है। इस तरह, अनुयायियों के पास पैगम्बर के समादेशों के प्रति अडिग रहने के लिए एक-दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करने के सिवाय दूसरा कोई विकल्प नहीं रहता है। फलस्वरूप, अपरिहार्य रूप से कट्टरपन्थिताएँ उत्पन्न होती हैं।

रोम्या रोलां ने टैगोर के भय सम्बन्धी विचारों से सहानुभूति रखते हुए इस विवाद का विस्तार से वर्णन किया है। वह लिखते हैं :

''हम टैगोर की आशंकाओं और उनकी अपील को समझते हैं, वे सार्वकालिक हैं। जीर्ण पड़ रही पुरानी दुनिया के अन्तिम मुक्त विचार ने नयी ईसाइयत के उषाकाल में इन्हें आवाज दी थी। और जब भी हम स्वयं किसी सामाजिक या राष्ट्रीय आदर्श में कुछ अन्धविश्वास की उठती लहर का सामना करते हैं तो हम अपने अन्दर उन्हीं आशंकाओं को हिलोरें लेते देखते हैं। टैगोर का विद्रोह उस विश्वास के युगों के विरुद्ध मुक्त आत्मा का विद्रोह है जिसने इसे भड़काया है, क्योंकि मुट्ठी-भर पसन्दीदा लोगों के लिए जबकि विश्वास का अभिप्राय सर्वोच्च आजादी है, उन अधिसंख्य लोगों के लिए जिनका यह नेतृत्व करता है, इसका अभिप्राय केवल गुलामी का एक दूसरा रूप होता है।''[8]

आगे, एक दूसरी जगह, विशेषकर गांधी के स्वदेशी आन्दोलन के बारे में वह लिखते हैं :

"गांधी में सन्त के गुण ज्यादा हैं; वह काफी शुद्ध हैं, वह मनुष्य के अन्दर जो पाशविक विकार शिथिल पड़े होते हैं, से बिल्कुल मुक्त हैं। वह यह दबाव नहीं देखते हैं कि वे विकार मनुष्य के अन्दर घुटना मोड़कर बैठे हुए हैं तथा उनके शब्दों का निगल रहे हैं और उन पर फल-फूल रहे हैं। टैगोर स्पष्ट द्रष्टा हैं, उन्हें असहयोग आन्दोलनकारियों से उत्पन्न होने वाले खतरों का अहसास है। आन्दोलनकारी जब निदोर्ष ढंग से यूरोप के अपराधों का पर्दाफाश करते हैं तो अहिंसा का उपदेश देते हैं तथा साथ ही लोगों के मन में वह विषाणु डाल देते हैं जो अपरिहार्य रूप से हिंसा को जन्म देता है। लेकिन, वे इस चीज का अहसास नहीं करते हैं, ये धर्म-प्रचारक जिनके हृदय घृणामुक्त होते हैं। लेकिन, वह जो मनुष्य का कार्य में नेतृत्व करता है, उसे न केवल अपने हृदय की धड़कन बल्कि दूसरों के हृदय की धड़कनें भी समझनी चाहिए। भीड़ से सावधान! कुत्ते से सावधान! गांधी के नैतिक उपदेश इसे रोक पाने में सक्षम नहीं होंगे।'[9]

घटनाओं पर नजर डाली जाए तो इस बाद वाले भय का आधार उतना मजबूत साबित नहीं होता है। हम जानते हैं कि गांधी के अपने काल में जहाँ भी अहिंसक आन्दोलन समुचित अनुशासन के तहत किया गया, यह कभी भीड़ हिंसा में तब्दील नहीं हुआ। जहाँ ऐसी हिंसा हुई, यह जनाक्रोश का अनिर्देशित विस्फोट था, जिसमें भाग लेने वालों को सत्याग्रह का धर्म सिद्धान्त नहीं बतलाया गया था। वस्तुतः गुफा मानव के अस्तित्व की जानकारी देना एक अतिरिक्त माँग रख देता है, अर्थात जनान्दोलन में अहिंसा की आवश्यकता को दुहराने का अवसर नहीं खोना चाहिए। यही एकमात्र उपचार है। यह गांधी के नीतिशास्त्र की श्रेष्ठता का विशेष चिह्न है जो अहिंसा से अटल संसक्ति की माँग करता है। इसमें आत्मसुधार का एक तत्त्व है जो जोशीले लोगों के जोश की हिंसा को दबा देता है क्योंकि वह जोश स्वयं सत्याग्रह के अखंड अंश के रूप में विरोधी के लिए अनुकम्पा की माँग करता है। लेकिन, यह निस्सन्देह उस उपदेश के जाने या अनजाने विकृत हो जाने हेतु जगह छोड़ देता है जहाँ बल प्रयोग को पैगम्बरों के धर्मादेशों को लागू करने के साधन के रूप में शामिल कर लिया जाता है।

इसलिए कुछ हद तक धर्मसंकट बना रहता है।

पैगम्बर के धर्मादेशों का एक स्वतः स्फूर्त और अन्ध-अनुपालन प्रचलित

नैतिक आदेश पर एक नये नैतिक आदेश की विजय की शर्त भी है। इस तरह का स्फूर्त जवाब हमेशा साधारण, प्रायः निरक्षर लोगों, से मिलता है। दार्शनिकगण तो हमेशा वाद-विवाद और सन्देह किया करते थे, कलाकारगण पैगम्बर के आडम्बरों को उद्घाटित करने का प्रयास करते थे। कुछेक को छोड़कर सक्षम व्यक्ति उन उपदेशों की अनदेखी करेंगे तथा विलासिता और विचारहीनता का अपना जीवन जारी रखेंगे; इसलिए नया नैतिक आदेश लागू करने का बोझ हमेशा उन साधारण लोगों के कन्धों पर पड़ता है जिन्हें इसकी सख्त जरूरत होती है। यह अंशतः समाज को ऊपर में निर्दिष्ट किस्म के धर्मसंकट से मुक्त भी करता है, क्योंकि जो लोग आगे इस नये विश्वास को ढोते हैं, वे उन लोगों से भिन्न होते हैं जो इसमें सुधार की तलाश करते हैं। यह नया विश्वास साधारण लोगों को सामाजिक व्यवहार में बड़ा बदलाव लाने के लिए प्रेरित करता है। जब बड़ा बदलाव हो जाता है तो दार्शनिक भी इससे सहमत हो जाते हैं। कलाकार इसे स्वीकार कर लेने के बाद भी इसके तन्त्र का छिद्रान्वेषण करते हुए कभी नहीं थकते हैं। लेकिन, साधारण जन जब नये विश्वास को स्वीकार कर लेता है तो उनके पास जोश का प्रारम्भिक दौर पार करने के बाद तन्त्र की कठोरताओं को पतला करने का एक मार्ग भी होता है। इससे इस तन्त्र को सहजवृत्ति वाले जीवन की माँगों की लय में किया जाता है। इस प्रक्रिया में नैतिक संहिताएँ सन्तों के दिव्य क्षेत्र से निकलकर साधारण मनुष्य के सांसारिक जीवन तक पहुँचती हैं। इस प्रक्रिया में जबकि सामाजिक रूप से प्रासंगिक संहिता को रोक लिया जाता है, शेष संहिताओं को प्राकृतिक मानवीय दुर्बलता और सामान्य-बोध की माँगों के अनुरेख किया जाता है। आरम्भिक चरण में मानवीय प्रकृति के अध्यात्मीकरण की माँग होती है; बाद वाले चरण में, विश्वास के अमूर्त सिद्धान्तों के मानवीयकरण की माँग होती है। इसलिए, महत्त्व के स्थानान्तरण के जरिये, अपनी परेशानियों के बावजूद नैतिक मूल्य बने रहते हैं।

परन्तु, पैगम्बर का आगमन सदैव आदर्शों व सांसारिक आकांक्षाओं में सामंजस्य बिठाने की लोगों की क्षमता को कठिन जाँच में डाल देता है। वे पैगम्बर के बिना नहीं रह सकते हैं, क्योंकि उनकी उपस्थिति ही सामाजिक स्वस्थता की शर्त होती है; लेकिन, वे इनके साथ आराम से रह भी नहीं सकते हैं, क्योंकि पैगम्बर का जीवन सामान्य मानवीय क्षमता से परे मालूम पड़ता है।

ऐसा मालूम होता है जैसे वे अपनी सांसारिक आकांक्षाओं पर ठंडा पानी डाल रहे हों। अतएव, प्राय: लोगों की प्रतिक्रियाएँ पैगम्बर के सम्मान एवं लोकक्रम, जो सचमुच में वह होता है, के प्रति गम्भीर खतरे के रूप में उसकी भर्त्सना के बीच एकान्तरित होती हैं। एक कथाक्रम के रूप में वे या तो उनकी पूजा करते हैं या उनकी हत्या कर देते हैं। जहाँ तक गांधी का प्रश्न है, यद्यपि उन्होंने एक छोटे रास्ते पर नवजागरण की प्रक्रिया को शुरू किया था, लेकिन उन्होंने जो बीज बोया, उसे अभी भी एक हरे-भरे प्रस्फुटित वृक्ष के रूप में अंकुरित होना है। उनके नुस्खे कठिन हैं और उपभोक्तावाद में मदहोश यह दुनिया शायद हताशा के वक्त अर्थात महाविपत्ति के काफी करीब पहुँच जाने की घड़ी में, उन्हें स्वीकार करेगी।

सन्दर्भ

1. कोटेड बाई रोम्या रोलां इन महात्मा गांधी में रोम्या रोलां द्वारा उद्धृत, कैथरीन डी. ग्रोथ द्वारा फांसीसी से अनुवादित, पब्लिकेशन डिवीजन 1975 (प्रथम प्रकाशन 1924) पृष्ठ 75-76।
2. पूर्वोक्त, पृष्ठ 76।
3. पूर्वोक्त, पृष्ठ 78।
4. पूर्वोक्त, पृष्ठ 80।
5. पूर्वोक्त, पृष्ठ 80।
6. पूर्वोक्त, पृष्ठ 83-84।
7. पूर्वोक्त, पृष्ठ 85-86।
8. पूर्वोक्त, पृष्ठ 82।
9. पूर्वोक्त, पृष्ठ 92।

क्या गांधी सफल होंगे?

आलोचना की एक पंक्ति है जो गांधी के कहे हुए का गुण स्वीकार करने के साथ ही इसकी जीवन-क्षमता पर सन्देह करती है। आलोचक यह महसूस करते हैं कि अहिंसा स्वाभाविक रूप से सामाजिक परिवर्तन के हथियार के तौर पर कमजोर होती है, क्योंकि नयी व्यवस्था को हमेशा उन अच्छी-खासी संख्या वाले लोगों की इच्छाओं के विरुद्ध बलपूर्वक लागू की जाती है जो इसके विरोधी होते हैं। उन्हें इतिहास में वैसी कोई घटना नजर नहीं आती है जहाँ बल प्रयोग किये बिना समाज में नयी व्यवस्था लागू की गयी हो। मैकियावेली ने शासनकाल के अपने श्रेष्ठ अध्ययन में निश्चित ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर इस सिद्धान्त का सामान्यीकरण किया है जो आज भी अनेक लोगों के लिए मार्गदर्शक बना हुआ है। वह लिखते हैं :

"यद्यपि हम चाहते हैं कि इस विषय का पूरी तरह वर्णन करें तो यह जाँच लेना आवश्यक होगा कि क्या ऐसे प्रवर्तक स्वयं पर निर्भर रहते हैं या वे दूसरे लोगों पर विश्वास करते हैं; कहने का तात्पर्य है कि क्या उन्हें अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के उद्देश्य हेतु अनुनय-विनय का सहारा लेना पड़ता है या वे इसे बलपूर्वक पूरा कर ले सकते हैं। पहले मामले में तो वे हमेशा बुरी तरह से सफल हो जाते हैं, तथा किसी भी चीज को समाप्त कर पाने में असफल हो जाते हैं : लेकिन, जब वे अपने प्रवर्तन को कार्यरूप देने के लिए अपनी शक्ति पर निर्भर होते हैं तो उन्हें शायद ही कोई खतरा होता है। तभी से ऐसा है कि वे सभी पैगम्बर जो हाथों में हथियार लेकर आये, सफल हो गये जबकि जिनके हाथों में हथियार नहीं था, वे बर्बाद हो गये। चूँकि, उपर्युक्त तर्क के साथ ही लोगों की व्यवस्था परिवर्तनशील रहती है : उन्हें किसी चीज के लिए मना लेना आसान है, लेकिन उस विश्वास के प्रति उन्हें दृढ़ कर पाना मुश्किल है। इसलिए, पैगम्बर पर यदि लोग विश्वास करना छोड़ दें तो उन्हें उनसे बलपूर्वक विश्वास मनवा लेने में समर्थ होने के लिए तैयार होना चाहिए।"[1]

यह विचार इतने अच्छे ढंग से स्थिर रहा है कि आइजक द्योत्से ने लियोन ट्राटस्की की अपनी तीन खंडों की आत्मकथा का भाष्य सिद्धान्त बना दिया और इनका शीर्षक दिया– सशस्त्र पैगम्बर, निहत्था पैगम्बर और कुजात पैगम्बर। उनका उद्देश्य यह साबित करना था कि क्रान्ति को अन्ततः उन लोगों की इच्छाओं के विरुद्ध खड़ी करना है जो आसानी से समाज के जीवन की सम्पूर्ण संरचना को बदलने के लिए आवश्यक प्रयास करते हुए थक जाते हैं। चूँकि लोग एक निश्चित समय के बाद परिवर्तनों के प्रतिरोधी बन जाते हैं, इसलिए अधिकांश नेताओं पर यह आन पड़ता है कि वे आन्दोलन के साथ ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को जोड़ें। इस काम को वे अक्सर बलपूर्वक पूरा करते हैं। उनके विचार रूस में स्तालिन की तानाशाही के लिए क्षमा बन गये और फँसाव द्वारा इसे एक नियम के रूप में लिपिबद्ध कर दिया गया कि भविष्य में वे क्रान्तिकारीगण इसका अनुसरण करेंगे जो समाज में मौलिक परिवर्तन चाहते हैं। यही विचार माओ त्से तुंग द्वारा एक भिन्न रूप में व्यक्त किया गया, जब उसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि क्रान्ति बन्दूक की नली से निकलती है।

लेकिन, मैकियावेली 'पैगम्बर' शब्द का बहुत ही संकीर्ण अर्थ में इस्तेमाल करते हैं और अपने दृष्टान्तों में अधिकांश ऐसे प्रवर्तकों को शामिल करते हैं जो अनिवार्यतः नैतिक उपदेशक की बजाय सामाजिक विधायक और शासक थे। उदाहरणार्थ वह लिखते हैं :

"मूसा, साइरस, थेरियस या रोमूलस, ये सभी यदि हथियारों के बल पर अपने कानून और संस्थाओं को लागू नहीं किये होते तो वे सब दिखाई नहीं देते। यही अनुभव ब्रदर जिरोलामा सवानारोला का था, लोगों ने जैसे ही उनमें विश्वास करना बन्द कर दिया वे चीजों की एक नयी व्यवस्था स्थापित करने के अपने प्रयासों में असफल हो गये : क्योंकि उनके पास वैसा कोई साधन नहीं था जिससे वे अपने आस्तिकों को आस्था के प्रति दृढ़ बना सकें या नास्तिकों को विश्वास करने के लिए प्रेरित कर सकें।"[2]

मैकियावेली की सूची में केवल मूसा ही हैं जिन्हें सही में पैगम्बर की श्रेणी में रखा जा सकता है। अन्य लोग मुख्यतः नगरों और साम्राज्यों के संस्थापक हैं। सवानारोला एक सुधारक थे जिन्होंने उस नैतिक नियम को लागू करने का प्रयास किया जो पहले से ही ईसाइयत के सिद्धान्त में विद्यमान था। मूसा किसी भी मामले में सांसारिक शक्ति पर निर्भर नहीं थे, वह दैवीय शक्ति पर निर्भर

थे। इसलिए, उन्हें उस समूह में नहीं रखा जा सकता है जिसमें कि उन्हें रखा गया है। मैकियावेली, हो सकता है कि बुद्ध या अशोक को नहीं जानते रहे होंगे, लेकिन उन्होंने ईसा को भी पैगम्बरों की सूची में नहीं रखा है। सम्भव है, ऐसा उन्होंने चर्च के भय से किया हो, क्योंकि ईसा की असफलताओं को रेखांकित करना अपधर्म हो जाता। हालाँकि, मैकियावेली के जमाने में इटली पुनर्जागरण, स्वतन्त्रता और सहिष्णुता की हवा में साँस ले रहा था, फिर भी ऐसा कर पाना उनके लिए आसान नहीं था। साथ ही, ईसाई ईसा को न केवल पैगम्बर मानते थे, बल्कि ईश्वरपुत्र भी मानते थे। लेकिन, यदि हम चर्च की धर्मनिरपेक्ष शक्ति पर विचार नहीं कर नैतिक अन्तर्दृष्टियों और प्रवर्तनों के प्रभाव पर विचार करें तो स्पष्ट रूप से निहत्थे पैगम्बर अन्तिम हँसी के साथ प्रकट हो जाते हैं।

उदाहरण के तौर पर ईसाइयत को ही लें। ईसा मसीह को सूली पर चढ़ाया गया तथा रोमन साम्राज्य में काफी समय तक उनके अनुयायियों को यातनाएँ दी गयीं। यह प्रभावशाली धर्म नहीं बन पाया तथा तीन शताब्दियों तक ईसाइयों को घोर यातना झेलनी पड़ीं। लेकिन, इस दौरान यह भूमिगत प्रवाह बना रहा और अपने नैतिक प्रभाव को काम में लाता रहा। रोमन साम्राज्य का धर्म बन जाने के बाद इसे काफी क्षति पहुँची। इसके बाद धीरे-धीरे यह आक्रामकता और आत्मविवर्धन से सम्बद्ध हो गया। जहाँ तक इसके संगठित प्रदर्शन का सम्बन्ध है, उत्पीड़ित किये जाने की जगह यह उत्पीड़कों का धर्म बन गया। लेकिन, इसके सम्पर्क में आने वाले जनसाधारण की अन्तःचेतना से समानता और भाईचारे का मूल्य तथा वह विश्वास कि विनम्र को ही यह दुनिया विरासत में मिलेगी, गायब नहीं हो सका। इसका व्यापक प्रभाव ही था जिसके जरिये समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व के नारे को यूरोपवासियों ने अपनाया। फलतः यूरोप और पूरी दुनिया में महान सामाजिक परिवर्तन हुए। समाजवाद का सिद्धान्त केवल इन नारों के माध्यम से अभिव्यक्त आदर्शों का एक विस्तार है। आज ईसाइयत के मूल्य संयुक्त राज्य अमेरिका और दक्षिणी अफ्रीका के अश्वेत लोगों के लिए प्रेरणा भी बन जाते हैं। ईसाई एक लम्बे समय के विपथन के पश्चात चर्च के एक समूह के साथ ईसाइयत के सही धन्धे की फिर से खोज भी कर रहे हैं कि वंचितों और दलितों के साथ पहचान बनायी जा सके।

इसके लगभग दो हजार साल के विकास पर गौर करते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि शस्त्रों के अभाव में ईसाइयत को हानि पहुँची तथा सशस्त्र

शक्ति के अर्जन से इसे लाभ हुआ। इसके विपरीत ठीक उल्टा घटित हुआ; यह जिस समय गरीबों और पीड़ितों का धर्म थी तो इसे लाभ हुआ और जब यह सशस्त्र शक्ति से जुड़ गयी तो इसका आवश्यक चरित्र गायब हो गया। लेकिन, मैकियावेली का सिद्धान्त बौद्धवाद के प्रयास से पूरी तरह खंडित हो जाता है। बुद्ध सबसे बड़ा अहिंसक पैगम्बर थे जिनकी करुणा न केवल मानवप्राणियों को बल्कि समस्त प्राणियों को गले लगाती थी। बुद्ध और उनके अनुयायियों ने अपने सन्देश का प्रसार बलपूर्वक नहीं बल्कि प्रेमपूर्वक किया। सम्राट अशोक जब बौद्ध बने तो उन्होंने शस्त्र का प्रयोग करना छोड़ दिया और अपने दूतों को जिनमें निहत्थे पुरुष और महिलाएँ थीं, प्रेम और शान्ति के सन्देश के साथ दूर देशों में भेजा। और केवल अपने विश्वास और साधुओं के भिक्षा माँगने वाले कटोरे से लैस इन दूतों ने अधिकांश एशिया को बौद्ध बना दिया। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म अंगीकार करने वालों में न केवल सामान्य लोग शामिल थे, बल्कि बहुत-से राजा और महाराजा भी शामिल थे।

इसका जवाब दिया जा सकता है कि मैकियावेली केवल नये मत से उत्पन्न चरित्र और व्यक्तिगत आस्था को ही उद्धृत नहीं करते हैं, बल्कि पूरे समाज पर जीवन का एक तरीका लागू करने की पैगम्बर की क्षमता को भी उद्धृत नहीं करते हैं। और इसी सन्दर्भ में लोगों को गांधी के अहिंसा सम्बन्धी सिद्धान्त की सफलता के बारे में सन्देह होता है।

ऐसे विरोध का सम्बन्ध दो चीजों से होता है– (1) निश्चित मूल्यों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण तथा (2) बाहरी आक्रमण से राष्ट्र की सुरक्षा क्योंकि यह किसी व्यवस्था के अस्तित्व की पहली और न्यूनतम शर्त होती है।

हमें इन विचारों की जाँच करनी चाहिए। हम किसी व्यवस्था या तन्त्र की जाँच केवल उपलब्ध विकल्पों के आलोक में ही कर सकते हैं। यदि यह दिखाया जा सके कि वैकल्पिक व्यवस्था में चारों ओर फैल जाने एवं सहन करने की भारी क्षमता है तो स्वाभाविक रूप से इसे समर्थन मिल जाता है। चूँकि गांधी आधुनिक समस्याओं का समाधान चाहते थे, इसलिए ऐसी तुलना के लिए हम उनके समकालीनों की जाँच कर सकते हैं। माओ लगभग गांधी के समकालीन ही थे और उन्होंने समाज में एक बड़ा परिवर्तन लाया था। अतएव, इन दोनों के बीच तुलना करना उचित रहेगा : ज्यादा इस लिहाज से

कि माओ इस सिद्धांत के प्रतिपादक थे कि क्रान्ति बन्दूक की नली से निकलती है। साथ ही, माओ का लक्ष्य न केवल सतही राजनीतिक बदलाव था, बल्कि लोगों के मौलिक मूल्यों में भी बदलाव लाना था। उनका सांस्कृतिक आन्दोलन ठीक इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया गया था। माओ ने लोगों में अभीष्ट बदलाव लाने के लिए छात्रों और युवाओं को तैयार करने का प्रयास किया क्योंकि पुरानी पार्टी और राज्य की नौकरशाही पुराने सामाजिक मूल्यों में गहरे डूबे हुए थे। यह लामबन्दी बिल्कुल हिंसक थी और अपने विकास के एक निश्चित चरण में खुद लाल सेना का इस्तेमाल पुराने राज्य और पार्टी पदाधिकारियों पर जोर-जबर्दस्ती करने के लिए छात्रों के समर्थन में किया जाता था।

एक समय ऐसा लगता था कि सचमुच बहुत बड़े बदलाव हो रहे हैं, पुराने मूल्य और उनके विषाणु जड़ से खत्म हो जाएँगे। लेकिन, माओ के निधन का एक दशक भी पूरा नहीं हुआ था कि पूँजीवाद के समर्थक प्रतिहिंसा के साथ चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर वापस लौट आये और डटे हुए हैं तथा जीवन के हर क्षेत्र में उस 'महान कर्णधार' की प्रतिष्ठा धूमिल हो रही है। यदि यह केवल सर्वोच्च सत्ता का प्रश्न होता तो माओ के पास वह सत्ता थी और वह दल के उन सभी नेताओं का सफाया कर सकते थे जो उनके विरोधी थे। लेकिन, पार्टी और राज्य के अंगों में शामिल उन लोगों के समूह के सिवाय कुछ भी नहीं बदला। सांसारिक वस्तुओं के प्रति मूलभाव, संग्रहवृत्ति तथा उस सत्ता की सनक जो साथियों की हत्या या अपमान करवाती है, इन सबमें कोई बदलाव नहीं हुआ। ऐसी परिस्थिति में संस्थानिक परिवर्तन केवल सतही ही हो सकता था। यदि लोगों का उद्देश्य संस्थाओं से लड़ाई करने का होता, तो देर-सबेर संस्थाओं में परिवर्तन हो जाता। इसके अतिरिक्त हिंसक माध्यमों से बलपूर्वक परिवर्तन लाने की जरूरत ने खुद सत्ता का इतना जबर्दस्त केन्द्रीकरण कर दिया कि वह विशेषाधिकार और श्रेणीक्रम फिर से कायम हो गया जिसके विरुद्ध आन्दोलन किया गया था। इसलिए असफलताओं और विशेषाधिकारों ने अन्ततः केवल अपना रूप बदल लिया, इनके आचरण में कोई बदलाव नहीं हुआ। अन्तिम परिणाम को छोड़ दें तो असमानता के आधार को खत्म करने में माओ की कोई उल्लेखनीय उपलब्धि नहीं थी। निस्सन्देह, पारम्परिक संस्थाओं को ध्वस्त करने वाले तथा पश्चिमी किस्म के औद्योगिकीकरण को बढ़ावा देने वाले चीनी आधुनिक समाज की नींव डालने में माओ की उल्लेखनीय भूमिका

रही है। हम कह सकते हैं, साम्यवादियों ने एक बदलाव अवश्य लाया है और वह बदलाव पश्चिमी समाजशास्त्रियों के अनुसार विकास की दिशा से सम्बन्धित है जो समुदाय से समाज की तरफ मुड़ गयी। लेकिन, ऐसा विकास तो अधिकांश यूरोपीय देशों, जापान, ताईवान और अनेक अन्य देशों में पहले ही हो चुका था। केवल इन देशों की स्थितियाँ भिन्न थीं। लेकिन, यह लक्ष्य नहीं था जिसके लिए माओ ने सबसे पहले जन लोकतान्त्रिक आन्दोलन और फिर सांस्कृतिक आन्दोलन शुरू किया था। वास्तव में सांस्कृतिक आन्दोलन का प्रयास आधुनिक औद्योगिक सभ्यता से सम्बद्ध समाजोन्मुखी विकास की नींव को उखाड़ फेंकने का भी था।

गांधी का आन्दोलन आरम्भ से ही हृदय-परिवर्तन और मूल्य-परिवर्तन की बात करता है। यह मन्द गति से होने वाला था, लेकिन एक स्थायी चीज थी। इसके बाद, चूँकि गांधी इसे अर्थव्यवस्था और राजनीतिक संरचना के विकेन्द्रीकरण से जोड़ने का प्रयास करते हैं, इसलिए उक्त व्यवस्था में विशेषाधिकारों को प्रोत्साहित करने वाली कोई आन्तरिक शक्ति नहीं है।

निस्सन्देह इसका विरोध इस आधार पर किया जा सकता है कि गांधी का तरीका अभी तक कहीं भी समाज बदलने में सफल नहीं रहा है, इसलिए यह तुलना ठीक नहीं है। इस पर यह कहा जा सकता है कि यही एकमात्र विधि है जिसे नयी सामाजिक व्यवस्था लाने वाले भौतिक बल की पहले की विधियों की असफलताओं के सामने आजमाया जाना शेष है। अनेक आंशिक संघर्षों में इसे जो सफलता मिली, वह इसे बड़ी सामाजिक समस्याओं का समाधान करने में सत्याभास की किंचित मात्रा प्रदान कर सकती है।

दूसरी समस्या उस राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित है जो आज अधिकांश देशों के राष्ट्रीय संसाधनों के एक बड़े हिस्से पर पहले ही कब्जा कर ले रही है। लोगों में एक यह भाव भी है कि इस विशेष क्षेत्र में सशस्त्र व्यक्ति अकेले किसी भी तरह की उत्तमता या श्रेष्ठता हासिल कर ले सकता है। लेकिन, इस पर हम गम्भीरता से विचार करें तो देखेंगे कि इस क्षेत्र में शस्त्रीकरण या तो स्वयं से बहुत ज्यादा हो गया है या अनावश्यक हो गया है। अत्यधिक शस्त्रीकरण वाली स्थिति समृद्ध और शक्तिशाली देशों में दिखाई देती है। यह विशेषत: अत्यधिक शक्तिशाली राष्ट्र की स्थिति है। इन देशों को किसी तरह के शस्त्र की जरूरत नहीं है क्योंकि इन पर किसी बाहरी आक्रमण का खतरा नहीं है।

ये देश अब दूसरे देशों पर अपना प्रभुत्व जमाने के लिए बड़े पैमाने पर शस्त्र इकट्ठा कर रहे हैं या वे ऐसा अपने निहित वैश्विक स्वार्थ को पूरा करने के लिए कर रहे हैं। दो सबसे शक्तिशाली राष्ट्र और इनके सहयोगियों ने नाभिकीय युद्ध सामग्रियों तथा वितरण प्रणालियों की भयानक व्यूह रचना के साथ इतनी अधिक अग्निशक्ति इकट्ठा कर ली है कि कुछ ही मिनटों में एक-दूसरे को तथा दुनिया के अधिकांश भाग को नष्ट कर दे सकते हैं। इसलिए, इनके लिए आगामी शस्त्रीकरण के पीछे का एकमात्र तर्काधार आतंक का सन्तुलन बनाये रखना है। लेकिन, उस सुरक्षा की व्यवस्था के तहत जिसकी नीयत अन्तत: हर किसी को नष्ट कर देने की होती है, कोई विजेता और विजीत नहीं रह जाता है। यह व्यवस्था स्पष्टत: मूर्खतापूर्ण है। शस्त्रीकरण अनावश्यक हो जाने वाली स्थिति उन देशों में पायी जाती है जो औद्योगिक रूप से विकासशील हैं और हाल तक औपनिवेशिक या अर्द्ध-औपनिवेशिक राज्य थे। यद्यपि इन देशों के लिए शस्त्रीकरण निरन्तर काफी खर्चीला साबित हो रहा है, इससे खजाना खाली हो रहा है तथा अनिवार्य आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है, लेकिन हथियार जुटाने का उन्माद बना हुआ है। अंशत: यह मनोवृत्ति साम्राज्यवादी प्रभुत्व के दिनों से ही उस मनोवैज्ञानिक सदमे से उपजी है जब अस्त्रों की श्रेष्ठता के कारण विदेशी शक्तियाँ छोटे सैन्यबलों से भी इन देशों पर अपना प्रभुत्व कायम करने में सक्षम थीं। हाल में विदेशी शासन से मुक्त होकर ये देश आधुनिक हथियार और आधुनिकीकृत सेना अर्जित करने के बाद सत्ताबोध का अनुभव कर रहे हैं। लेकिन, मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि जैसी भी हो, इन देशों का हथियार जुटाना न केवल अनावश्यक है, बल्कि प्रत्योपजाऊ भी है।

19वीं सदी और 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में व्याप्त स्थिति से उत्पन्न सशस्त्र राष्ट्रीय सुरक्षा का सम्पूर्ण सिद्धान्त अब कालदोष युक्त हो गया है तथा स्थिति में पूरी तरह बदलाव हो जाने के बाद भी यह लोगों के मन पर अपना असर बनाये हुए है। राष्ट्रीय सुरक्षा का विचार एक ऐसे युग में आया था जब दूसरे देशों पर कब्जा जमाने का चलन बहुत ज्यादा था। इसी समय में ब्रितानी यह गर्व से कहते थे कि 'शासन करो, ब्रिटेन लहरों पर शासन करता है' या उन्हें इस तथ्य पर गर्व होता था कि 'ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता है।' लेकिन, स्थिति बदल गयी है। इसमें मौलिक बदलाव आ गया है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोप से शुरू होकर राष्ट्रवाद की लहर पूरे विश्व में फैल

गयी है। शुरू में आत्मनिर्णय का अधिकार केवल यूरोपीय राष्ट्रों के सन्दर्भ में था, लेकिन धीरे-धीरे यह सार्वभौमिक हो गया। इसके बाद, किसी भी राष्ट्र को बन्धन में रख पाना असम्भव हो गया यानी लाभ के ख्याल से ऐसा कर पाना असम्भव हो गया। यह बाद वाली स्थिति काफी महत्त्व की है। उन पुराने दिनों से भिन्न जब गर्व के लिए साम्राज्यों का अर्जन होता था, 18वीं सदी से उपनिवेशों का अर्जन हुआ या देशों को मुख्य रूप से व्यापार और लाभ के ख्याल से संरक्षण में रखा गया। राष्ट्रवाद के विकास के साथ, चाहे विदेशी प्रभुत्व के राष्ट्रीय प्रतिरोध का जो भी रूप रहा हो, चूँकि इसमें पूरी आबादी शामिल थी, इसलिए एक छोटे-से राष्ट्र को भी ताकत के बल पर नियन्त्रण में रख पाना काफी खर्चीला हो गया। इस तरह का धन्धा वैसी सभ्यता के लिए लाभकारी नहीं रह गया जो मुख्य रूप से व्यावसायिक उद्देश्य के लिए अपना प्रसार चाहती थी। ऐसा इस नये विकास के समक्ष हुआ जब द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अधिकांश उपनिवेश आजाद हो गये। अमेरिकियों को वियतनाम में तथा रूसियों को अफगानिस्तान में जो पराजय मिली, उसका इन देशों पर जबर्दस्त असर हुआ। इस तरह, महत्त्वपूर्ण सवाल यह नहीं है कि क्या सैन्य रूप से शक्तिशाली ये राष्ट सैन्य रूप से पिछड़े छोटे राष्ट्रों पर नियन्त्रण रख सकते हैं, बल्कि महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि क्या आर्थिक रूप से इसका कोई मायने है। तेल उत्पादक देशों में इन बड़े शक्तिशाली राष्ट्रों के बड़े-बड़े दाव लगे हैं। तेल उत्पादक अभी भी संकट की घड़ी में सैन्य जोखिम का प्रलोभन दे सकते हैं, लेकिन अधिकांश अन्य देशों को ऐसा कोई खतरा नहीं है।

इस तरह, विश्व के अधिकांश देशों की मुक्ति के पक्ष में यह सबसे प्रभावशाली तर्क रहा है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से विजय बुरा व्यापार बन गयी है। इसलिए, विकसित देश तीसरी दुनिया के देशों पर अपना आर्थिक नियन्त्रण बनाये रखने के लिए इन्हें व्यापारिक रिश्तों के पाश में बाँधकर रखने का प्रयास कर रहे हैं। इस प्रयास में सबसे प्रभावी चीज निर्धन देशों से अस्त्रों की बिक्री रही है। चूँकि ये देश औद्योगिक रूप से पिछड़े हुए हैं, इसलिए अस्त्रों की आपूर्ति के बदले ये विकसित देशों को सस्ते दामों पर अपना खनिज व अन्य कच्चा माल देते हैं अथवा उनके भारी कर्जदार बन जाते हैं। कुछ तेल-सम्पन्न देशों को छोड़कर दुनिया के अधिकांश अन्य देश कर्ज में गहरे डूबते जा रहे हैं। कर्जदाता देश इतने सक्षम हैं कि वे कर्जदार देशों के आर्थिक जीवन

पर अपना नियन्त्रण बना लेते हैं। अक्सर वे जो कर्ज देते हैं उसके साथ अपमानजनक शर्तों को जोड़ देते हैं। इस प्रकार, प्रत्यक्ष प्रभुत्व के विरुद्ध जो राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल की गयी थी, उसे अप्रत्यक्ष आर्थिक प्रभुत्व से समाप्त कर दिया गया है।

इसलिए, हमारी विरोधभासी स्थिति है कि जब एक निर्धन राष्ट्र राष्ट्रीय सुरक्षा हेतु अस्त्रों की खरीददारी करता है तो यह और आजादी नहीं खरीद रहा होता है बल्कि और गुलामी खरीद रहा होता है।

इसके विरुद्ध गांधी ने राष्ट्रीय सुरक्षा का एक साधारण तरीका सुझाया था। वास्तविक भौतिक कब्जे के वक्त अहिंसक प्रतिरोध और असहयोग के अतिरिक्त जहाँ तक लोगों की बुनियादी आवश्यकताओं का सवाल है, गांधी ने राष्ट्रीय या ग्राम आत्मनिर्भरता का भी सुझाव दिया था। इसमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की समस्या का दोनों, अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन निराकरण है। दीर्घकाल में राष्ट्र एक आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था खड़ा कर उन सभी छिद्रों को भरता है जिनके माध्यम से विदेशी स्वार्थ उस राष्ट्र को भेद सकता है। जब हम निर्यात के लिए खनिज-लवणों की खुदाई करने या कच्चे मालों को विकसित करने का प्रयास करते हैं, तो हम आयातक देश के भीतर अपने उत्पादों के लिए लोभ और निर्भरता भी पैदा करते हैं, और यदि हमारे उत्पादक आयातक देशों के लिए बहुत जरूरी हो जाता है तो आपूर्ति ठप्प कर देने की धमकी मिलने पर वे हमारे अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने का प्रयास कर सकते हैं।

गांधी ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उस वक्त इन बिन्दुओं पर एक ठोस प्रस्ताव दिया था जब काँग्रेस द्वारा भारत को शीघ्र सत्ता हस्तान्तरित करने की माँग की जा रही थी। यह गम्भीर समय था, जापान लगभग भारत की दहलीज पर था तथा जापान के दबाव के आगे ब्रितानी प्रतिरोध बिल्कुल लड़खड़ाता नजर आ रहा था। स्वाभाविक रूप से स्वतन्त्र भारत के समक्ष राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या सर्वोच्च महत्त्व की हो गयी। गांधी ने राष्ट्रीय प्रतिरोध का अपना ढाँचा गढ़ने के प्रयास में काँग्रेसियों से आत्मनिर्भर ग्राम गणराज्य के निर्माण हेतु काम करने के लिए कहा। 18 जनवरी 1942 के 'हरिजन' में उन्होंने लिखा :

"... आज पुराने तरीके किसी काम के नहीं हैं। वर्तमान में कोई जनविद्रोह के बारे में नहीं सोचता है। सबसे बढ़िया, द्रुत और दुरुस्त तरीका नीचे से निर्माण करना है। मनोवैज्ञानिक क्षण आ गया है। गाँवों की ओर वापस लौटना

हर दृष्टिकोण से आवश्यक बन गया है। अब उत्पादन और वितरण का विकेन्द्रीकरण करने का वक्त है। प्रत्येक ग्राम को एक आत्मनिर्भर गणराज्य बनना है। इसे किसी साहसिक प्रस्ताव की जरूरत नहीं है। इसे साहसिक सामूहिक बुद्धिमत्तायुक्त काम की जरूरत है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, वर्तमान में यह शासकों और जनता के बीच का सामान्य आधार है।

"प्रत्येक काँग्रेसी को अपने पक्ष में जवाब देना चाहिए कि क्या वह शान्ति के सिपाही और सेवक बनेंगे या स्वराज निर्माण में अपना स्थान बनाने के लिए अनिच्छुक तुच्छ व्यक्ति बनेंगे।"

इस तरह का संगठन दोहरा उद्देश्य पूरा कर सकता था। यह लोगों को आर्थिक जीवन के युद्धकालीन विस्थापन के प्रभाव से मुक्त रख सकता था तथा किसी भी दखलकार सत्ता के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन को और प्रभावकारी बनाने का एक माध्यम भी हो सकता था, क्योंकि एक आत्मनिर्भर गाँव यदि सरकार से सहयोग लेना बन्द कर दे तो भी उसे कष्ट नहीं होता है। आधुनिक औद्योगिक समाज की जनता द्वारा किये गये असहयोग आन्दोलन में पहले जनता ही ऐसे असहयोग को झेलती है। 1968 में चेकोस्लोवाकिया की साहसी जनता ने दखलकार सोवियत बलों का असहयोग मिश्रित अहिंसक प्रतिरोध तो किया ही था। लेकिन, धीरे-धीरे असहयोग समाप्त हो गया। सुदूर व्यवस्थाओं की स्वतन्त्रता के साथ आधुनिक औद्योगिक समाज में असहयोग सारी गतिविधियों को ठप्प कर देता है तथा जनता भी अपनी रोजी-रोटी और हर चीज गँवा देती है। ऐसे समाजों में अल्पकालीन सामान्य हड़ताल (असहयोग का दूसरा रूप) लम्बे समय तक चलने वाले असहयोग की अपेक्षा ज्यादा प्रभावशाली होती है।

उस वक्त यानी 1942 में प्रतिरोध का यह विचार बहुत अव्यावहारिक लगा था। लेकिन, उत्तरवर्त्ती विकासों के आलोक में जहाँ साम्राज्यवादी शक्तियों के अन्त:प्रवेश का मुख्य माध्यम पूर्व-उपनिवेशों के साथ आर्थिक विनिमय है, उक्त नीति की प्रासंगिकता स्पष्ट हो रही है।

समय सामाजिक विषयों का सबसे बड़ा विलायक होता है। अधिकांश समस्याएँ जो एक समय अविलेय लगती हैं, समय गुजरने के साथ एक तुच्छ चीज नजर आने लगती हैं। एक महान प्रतिभा की भाँति एक पैगम्बर समय से ठीक उस वक्त परिदृश्य पर प्रकट होता है जब समस्या समाधान हेतु पूरी तरह

से पक चुकी होती है तथा उसका उचित समाधान करने हेतु चीजों को उचित स्थान पर व्यवस्थित करने के लिए उसके द्वारा एक उपयुक्त विचार से खोदने की जरूरत होती है। शायद, एक शताब्दी पहले गांधी को यह पहचान नहीं मिलती और वह निरर्थक साबित हो गये होते क्योंकि तब आधुनिक उद्योग प्रसार की अन्तहीन वीथी खोलता नजर आ रहा था और युद्ध एवं विजय का भी अपना गौरव था। आज इन दोनों सम्भावनाओं ने एक अन्ध-गलियारा तैयार कर दिया है। ये दोनों समानान्तर मार्गों से शवास्थिशाला तक जाते हैं। इसी पृष्ठभूमि के कारण गांधी के विचारों ने विश्व की कल्पना, विशेषकर उन लोगों की जो आर्किडियन सादगी के गांधी के आदर्शों से दूर चले गये हैं, को पकड़ना शुरू कर दिया है। लोगों के दृष्टिकोण में यह बदलाव आया है क्योंकि लोग यह महसूस कर रहे हैं कि आज मानव जाति जिस वास्तविक समस्या का सामना कर रही है, वह नैतिक समस्या है। इस सन्दर्भ में एक आयामीय रूपान्तरण हुआ है।

ऐसा कहना कुछ हद तक न्यायोचित होगा कि सम्पूर्णता में बीते युगों के उत्पादन का स्तर आज के उत्पादन के स्तर की तुलना में तुच्छ था। इसलिए, अतीत में अभाव का मनोविज्ञान कभी भी मनुष्य को पूरी तरह से नहीं छोड़ा, यद्यपि थोड़े से लोग विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे। इसलिए, सामाजिक समस्याएँ सदैव अभाव के परिप्रेक्ष्य में निर्धारित होती थीं। जाति को जिन्दा बनाये रखना दूसरी समस्याओं को निष्तेज कर दिया। नैतिक समस्याओं का अपना महत्त्व था, लेकिन वे लोगों के अतिजीवन को प्रभावित करने वाली राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं से ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं थीं।

तकनीक और उत्पादकता के अत्यधिक विकास से स्थिति में बदलाव आया है। यदि दुनिया में गरीबी और अभाव है तो यह चीजों की कमी के कारण नहीं है बल्कि वितरण की खामियों के कारण है। यदि शोषण और राजनीतिक उत्पीड़न है तो यह इसलिए नहीं है कि कुछ लोगों का अधीनीकरण और उनके अधिशेष उत्पादों का स्वत्वहरण उच्च सांस्कृतिक अनुसन्धानों के लिए कुछ अन्य लोगों को स्वतन्त्र करने हेतु अनिवार्य है। वे वहाँ महज इसलिए होते हैं कि क्योंकि लोग उस अनिष्टकारी नैतिक नियम के शिकार होते हैं जो संग्रहवृत्ति और हैसियत पर उच्च मूल्य लगाते हैं। इस तरह, समाज की सभी गम्भीर समस्याएँ आज मूल्यों की दोषपूर्ण पसन्द में परिवर्तनीय हैं। चूँकि आर्थिक प्रयास और राजनीतिक संघर्ष

सभी समाज की मूल्य व्यवस्था के गिर्द केन्द्रित होते हैं, इसलिए वर्तमान दुनिया के किसी भी महान सुधारक की मुख्य चिन्ता उन मूल्यों को बदलना होगा जो आज दुनिया पर प्रभुत्व बनाये हुए हैं। यह आश्चर्यजनक नहीं है कि आधुनिक समाज की दो क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ फासीवाद और साम्यवाद, इन दोनों ने मूल्यों की अपनी निजी व्यवस्थाएँ खड़ी करने का प्रयास किया है। साम्यवाद ने ईसाइयत के मूल्यों को स्वीकार लिया, यद्यपि इसने खुले तौर पर इस तथ्य की जानकारी नहीं दी। दूसरी तरफ, फासीवाद ने उन मूल्यों को मलिन करने तथा पदानुक्रम और प्रभुत्व के मूल्यों को उन्नत करने का प्रयास किया। दोनों आन्दोलनों में से कोई भी आन्दोलन पारम्परिक मूल्य व्यवस्थाओं के ढाँचे के अन्दर निर्धारित नहीं था। यदि गांधी ने अपने निजी जीवन और कार्य में प्रत्येक चीज को नैतिक आयाम में बदलने का प्रयास किया तो वह महज अपने समय की सबसे बाध्यकारी माँग का जवाब दे रहे थे।

वर्तमान समस्याओं के परिप्रेक्ष्य पर विचार करने से गांधी के उपदेश इन समस्याओं के निराकरण हेतु सहज और उपयुक्त जान पड़ते हैं। यदि दुनिया का मार्गदर्शन बुद्धिमत्ता से किया गया होता तो सामाजिक समस्याओं के उनके द्वारा बताये गये निराकरण को स्वीकार करने तथा लागू करने में कोई दिक्कत नहीं हुई होती। लेकिन, हजारों साल का सामाजिक विकास गम्भीर वैकृत मनोदशाएँ छोड़ गया है जिनके कारण उनके विचारों को लागू करना अत्यन्त मुश्किल है। लोग नस्ल, भाषा, जाति, धर्म इत्यादि की अनन्यता और श्रेष्ठता के पूर्वग्रहों के कारण अन्धे हो गये हैं और ये पूर्वग्रह उन्हें सरल मानव प्राणी के रूप में एक स्थिति का जवाब देने की मंजूरी नहीं देते हैं। व्यष्टि और समष्टि अपने अनन्य परिवेश द्वारा सृजित दुनिया में बन्द बोतल की तरह रहते हैं तथा घिसे-पिटे तरीकों से जवाब देते हैं। महात्मा के धैर्य, अनुकम्पा और साहस को अपनाकर दीर्घकाल में इन मानसिक अवरोधों में सेंध लगाना सम्भव हो सकता था। लेकिन, महात्मा तो एक ही थे, और सामाजिक स्थितियाँ ऐसी हैं जो हमेशा उनके सन्देश को चमत्कार दिखाने क लिए पर्याप्त समय नहीं देती हैं। जीवन के अन्तिम दिनों की उनकी अपनी निराशा अहिंसा के सरल आवेदन की इस सीमा का पर्याप्त साक्ष्य है।

1946 में अपनी नोआखाली यात्रा के दौरान उन्होंने इस चीज को शिद्दत से महसूस किया कि वह देश को अपने आगोश में ले चुकी घृणा के आगे कितने

निर्बल और असहाय हैं। उन्होंने भगवान पर विश्वास किया कि वही अकेले साम्प्रदायिक संघर्ष के रूप में प्रकट अमानवता की लहर का सामना कर सकते हैं। एन.के.बोस के अनुसार, ''बगल के एक मुसलमान किसान इस्माईल खोंडकर ने गांधी का स्वागत किया और कहा कि खुदा की मर्जी से ही इतना बुरा दिन धरती पर आया है। गांधीजी ने इसमें संशोधन करते हुए कहा कि सच है, ईश्वर की कृपा से ही परिस्थिति में बदलाव आ सकता है, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्तव्य निभाना है। ईश्वर भी मनुष्यों के माध्यम से ही काम करते हैं। वह व्यक्तिगत रूप से इस गाँव में अपना कर्तव्य निभाने आये हैं।''[3]

परन्तु, गांधी ने अपना काम करते हुए यह अनुभव किया कि वह पूरी तरह अँधेरे में खो गये हैं। चार दिनों बाद दिनांक 24.08.1946 को एन.के.बोस की डायरी में निम्नलिखित प्रविष्टि मिलती है :

''गांधीजी आज कुछ अच्छा महसूस कर रहे हैं। वह कुछ पहले ही रात्रि में लगभग 8 बजे बिछावन पर चले गये। दिन में मैंने उन्हें दो बार यह बुदबुदाते हुए सुना, 'क्या करूँ? क्या करूँ? मैं क्या करूँ? मैं क्या करूँ?''[4]

यह वेदना-भरी कराह लगभग ईसा की उस अन्तिम कराह की याद दिलाती है जिसके बारे में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। इसमें एक स्पष्ट चेतावनी है कि स्थिति का समाधान करने में पैगम्बर भी कोई चमत्कार नहीं कर सकते हैं। हालाँकि, गांधी का चमत्कारों में विश्वास नहीं था। प्रकृति की शक्तियाँ जिनमें मानवीय प्रकृति भी शामिल हैं, अपने क्रूर नियमों का अनुसरण करती हैं तथा इन्हें प्रभावित करने के लिए इन नियमों को समझने एवं इनसे मिली समझ से यथासम्भव इनकी प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप करने का प्रयास करने के अलावा कोई दूसरा विकल्प नहीं है। मनुष्य की नैसर्गिक भलमनसाहत में साधारण विश्वास की जगह मानवीय प्रकृति के बारे में ज्यादा-से-ज्यादा जानना-समझना होगा ताकि यह दूसरे समूह से आने वाले लोगों के प्रति सहिष्णुता और आदर की अपीलों का जवाब देने लायक बन सके। हालाँकि, अन्ततः हस्तक्षेप की दिशा उपयुक्त मूल्यों से निर्धारित होती है। विज्ञान स्वयं हमें उस मार्ग के बारे में कुछ नहीं बतलाता जिसमें इससे प्राप्त अन्तर्दृष्टि को लागू करना होता है। लोगों का शोषण करने तथा मानसिक रूप से उन्हें गुलाम बनाने हेतु वैज्ञानिक जानकारी को जिस सीमा तक आजमाया जाता है, हमारी अपनी सभ्यता उस सीमा का एक प्रमाण है। गांधी ने यह दावा करते हुए इस

प्रक्रिया को उलटने का प्रयास किया कि 'सत्य ही ईश्वर है'। इस प्रकार, सत्य जिसका अनुसरण विज्ञान ने भी किया, नैतिक रूप से तटस्थ नहीं रह पाया और उसके पास लागू होने का एकमात्र जायज मार्ग बच गया अर्थात मानव कल्याण का मार्ग। इस तरह, विज्ञान की पूजा करने वाली दुनिया में गांधी ने विज्ञान और प्रत्येक सम्भव ज्ञान (सत्य के उद्घाटन के रूप में) को मानवीय विवेक के प्रति जवाबदेह बनाने का प्रयास किया। शायद, इससे उन वैज्ञानिकों को उस नैतिक घबराहट से मुक्ति मिल सकती है जो वे जनसंहार और शोषण की तकनीकों के प्रति समर्पित संस्थाओं में काम करते हुए महसूस करते हैं। यदि सत्य के ये अन्वेषक अपनी संस्थाओं और संस्कारों को न कहना सीख जाते हैं तो यह युद्ध का खेल करीब-करीब समाप्त हो जाएगा। इससे दुनिया को उस नैतिक शून्यवाद के पथभ्रष्ट वातावरण से सुरक्षा मिलेगी जो मनुष्य के कार्यों पर किसी तरह की सीमा आयत नहीं करता है।

सशस्त्र पैगम्बरों के बारे में मैकियावेली के दावे के मद्देनजर गांधी में सफल होने की कितनी सम्भावनाएँ हैं? उपर्युक्त विवेचना के आलोक में विचार करें तो मानव जाति की उत्तरजीविता के लिए गांधी ही एकमात्र आशा की किरण दिखते हैं। प्रजातियों में उत्तरजीविता की सहज प्रवृत्ति होती है, इसलिए एक स्पष्ट सम्भावना बनती है कि मनुष्य की प्रतिकूलता और संगठित मानवीय समूहों द्वारा सृजित क्रूरता के बावजूद अन्ततः मनुष्य गांधी के बताये अहिंसा और शान्ति के मार्ग को अपना लेगा। यह एक सीमित स्वीकार हो सकता है, लेकिन ऐसी सीमित सफलता सभी नैतिक उपदेशों का प्रारब्ध है। कुछ नये मौलिक नियम बना लिये जाएँगे और शायद इसके बाद लोग हमेशा की तरह जीना शुरू कर देंगे। लेकिन, इससे एक शान्तिप्रिय और स्वस्थ दुनिया का सृजन होगा। यदि ऐसा होता है तो गांधी के मार्ग को पूरी तरह से न्यायसंगत ही ठहराया जाएगा।

सन्दर्भ

1. मैकियावेली, द प्रिंस।
2. पूर्वोक्त।
3. एन.के. बोस, माई डेज विद गांधी, निशाना, कोलकाता 1953, पृष्ठ 57।
4. पूर्वोक्ति, पृष्ठ 71-72।

अनुक्रमणिका

अंटाएस 31
अँग्रेज 81, 83, 92, 97
अँग्रेजी कानून 70
अईसाई 86
अक्टूबर क्रान्ति 114
अज्टेक 63
अर्जनशील आकांक्षा 61
अर्जित व्यवहार 39
अटलांटिक 104
अतर्क्य सत्ता 22
अतिमानव 18
अतिजीवन 6, 37, 45
अतिभोग 110
अधर्म 109
अधिचिह्न 41
अध्यात्मीकरण 141
अन टू दि लास्ट 88-89
अनाग्रह 39
अनादर्शवादी 22
अनुत्क्रमणीय 36
अनुकूलन 32, 33, 36
अन्तर्जातीय विवाह 112
अन्त:विशिष्ट आक्रामक शक्ति 37
अन्तरंग ईसाई संघ 84-85
अन्तरात्मा 47
अन्धविश्वास 15, 17
अन्यायसंगत युद्ध 124
अन्वेषणात्मक व्यवहार 37
अपकर्षवाद 138
अपधर्म 145
अप्रतिरोध 104
अफगान आक्रमण 79
अफगानिस्तान 150
अफीम व्यापार 97
अफ्रीकी 75, 122
अभिव्यक्तिकरण 41
अमानवीकरण 21
अमेरिका (संयुक्त राज्य अमेरिका) 107
अमेरिकी 150
अमेरिकी-भारतीय 63
अमूर्तीकरण 26
अरस्तू 55
अराजकतावाद 17
अर्थव्यवस्था 148
अर्थशास्त्र 91, 95
अर्ध-औपनिवेशिक 149
अलघुकरणीय 26
अलौकिक 22, 24
अल्पसंख्यक 106-107, 114, 116-118
अल्बर्ट कामस 115, 116
अवस्थान्तरण 23
अवैयक्तिक 27, 28
अशोक सेकसरिया 10
अश्वेत 63, 92, 96
असभ्य 29
असहयोग 123, 151
असहयोग आन्दोलनकारी 140
अस्तित्व 24, 27, 29, 43

अस्तित्ववादी 21, 22, 43
अस्पृश्यता 100, 111
अहिंसक 113, 123
अहिंसक आन्दोलन 113, 140
अहिंसक पैगम्बर 146
अहिंसक प्रतिरोध 104, 107–108, 117, 118, 151–152
अहिंसा 71, 104, 119, 123, 127–128, 143, 146, 154, 156
अज्ञेयवादी 21

आइजक द्योत्से 144
आई. ए. रिचर्ड 132
आचार संहिता 22, 45
आजादी 15–16, 151
आतंक 149
आतंकवाद 72, 108, 116–117
आतंकवादी हिंसा 118
आत्मकथा 6, 68
आत्मनिग्रह 74
आत्मसातकरण 116
आदर्श पुरुष 120
आदर्शीकरण 42, 44
आदर्शवादी दर्शनशास्त्र 20
आदर्शवादी विचार 21
आदर्शवादी 21
आदिम 22, 49
आदिम मॉडल 20
आधुनिक 5, 125
आधुनिक औद्योगिकवाद 125
आध्यात्मिक 6,
आध्यात्मिक नैतिक सिद्धान्त 104
आध्यात्मिक विकास 131, 104
आनुवांशिक 34, 121, 98
आनुवांशिक अनुकूलन 32, 121
आनुवांशिक कारण 32
आनुवांशिक नियन्त्रण 31
आनुवांशिक प्रदाय 6, 10, 32, 34
आनुवांशिक संहिता 31, 39
आनुषंगिकता 30
आन्तरिक प्रेरणा 41
आन्तरिकीकरण 23, 40
आन्दोलन 9, 105–106, 109
आन्दोलनकारी 140
आन्द्रे गिद 27
आपात धर्म 134
आर्किडियन सादगी 153
आर्चराईट 64
आर्थर कोएस्लर 110
आर्थिक गैर-बराबरी 6
आस्तिक 9
आस्तिकता 101
आस्था 21
आशावाद 97

इंका 63
इंग्लैंड 63, 65, 69, 81–82, 106, 108
इटली 114, 145
इड 34
इडोमेनियस 56
इतिहास 72, 85, 88, 91, 94–95, 111, 119, 115, 135, 143, 129
इतिहास की अपरिहार्य शक्ति 22
इलहाम 83–84
इलियट, टी.एस. 113
इस्लाम 50, 84, 88
इस्माइल खोंडकर 155

ईश्वर 9, 17–21, 27–28, 41, 47, 62, 68, 79, 101, 125, 127, 129, 136–138, 155
ईश्वर का सिद्धान्त 20
ईश्वर की सत्ता 21
ईश्वरपुत्र 145

ईश्वरीय हस्तक्षेप 28
ईश्वर का राज्य 104
ईश्वर की सृष्टि 136
ईश्वरीय कृपा 62
ईसाइयत 17, 46, 50, 54–55, 60, 69, 84–86, 88, 139, 144–145
ईसाई 17, 18, 44, 50, 59, 62, 79, 84
ईसाई धर्म सिद्धान्त 84–86, 88, 94, 145
ईसा 16, 27, 26
ईसा मसीह 51–52, 54–55, 58, 79, 84–86, 99, 100, 102–103, 133, 145, 155
ईसोपदेश 21
ई.एम. शूमाकर 95
ईसा का मन्तव्य 84
ईश्वर के सन्देशवाहक 47

उड़ीसा 137
उत्तरी अफ्रीका 54
उत्पीड़क 119
उदारवादियों के नाम पत्र 104
उपदेश 6, 15, 122, 134, 141
उपदेशक 6, 10, 16, 59, 113
उपनिवेश 54–55, 63, 65, 68, 150, 152
उपनिषद 21, 76, 86
उपनिषदीय 99
उपभोक्तावाद 6, 142
उपभोग 97
उपासना पद्धति 23

एकतावादी 80
एकपक्षीय सम्मान 42
एकाधिकार 56
एच.ए.एल. फिशर 133
एडवर्ड मायटलैंड 84
एडविन आर्नोल्ड 82
एडवेंचर्स ऑफ लिबर्टी 7
एन एथीस्ट विद गांधी 101
एपिक्यूरस 55–56
एस. के. जॉर्ज 87
एन. के. बोस 155
एलिपाईल 62
एशिया 54, 63, 82, 146
एसोटेरिक ईसाई यूनियन 84

ऐतिहासिक परम्परा 84

औद्योगिक अर्थव्यवस्था 66
औद्योगिक क्रान्ति 63
औद्योगिक राष्ट्र 66
औद्योगिक व्यवस्था 68
औद्योगिक सभ्यता 5, 148
औद्योगिक समाज 88, 90, 95, 152
औद्योगीकरण 64, 147
औद्योगिकवाद 82, 125
औपनिवेशिक 65, 149

कट्टरपन्थिता 139
कट्टरपन्थी 134
कबीर 11, 138
कला 26, 36, 80, 100, 131–132, 134
कलाकार 46
कलियाव (रूसी क्रान्तिकारी)116
कल्पनाशील दुनिया 26
कवि 46, 136, 137
कस्मोपोलिटन 57
काउंट लियो टॉल्सटाय 193
काँग्रेस 16, 124
काँग्रेसजन 125, 151
कांट, इमेन्युएल 24, 25
कानूनदाता 40
कॉन्सटेंटाईन 86
कार्ल मार्क्स 15
कार्लाइल 84

काल्पनिक दुनिया 31
किंवदन्ती 15
केन्द्रीकरण 147
कुजात पैगम्बर 144
कुटीर तकनीक 96
कुष्ठ रोग 74
कोट्स, मि. 69
कोरान्द लॉरेंज 47, 120, 35-37
कोलकाता 87
कोलम्बो 86
क्यूबा 114
क्लब ऑफ रोम 96
क्लाउड लेवी स्ट्रॉस 111
क्लेनबाक 79, 75
क्रान्ति 144, 147
क्रान्तिकारी 119, 144, 154
क्रूसारोपण 27
कृषक आन्दोलन 94
कृषक विद्रोह 24
कृत्रिम पर्यावरण 34

गणराज्य 54
गरिमा 27,
गरीबी 76, 152
गांधी 5, 7, 9-10, 15-17, 54, 60, 68-70, 72-74, 76-78, 81, 83-88, 95-96, 100, 102-106, 108-111, 113, 117-126, 129, 134-140, 143, 146, 148, 153-155
गांधीवादी 87
गांधी दर्शन एवं स्मृति 7
गांधी साहित्य 9
गिरजाघर 94
गीता 29, 70, 79, 82-83, 138
गुजराती 69
गुलाम 16, 109, 155
गुलाम नैतिकता 17
गुलामी 61, 139, 151, 197
गेल्वानी 63
गैर-इसाई 85, 87
गैर-यहूदी 60
गैलिलियो 62
गोरा(जी. रामचन्द्र राव) 100-103
ग्रैंड ड्यूक सर्जी 116
ग्राम आत्मनिर्भरता 151
ग्राम गणराज्य 151
ग्रीक 54

घातक अस्त्र 18

चमत्कारिक दुनिया 26
चमत्कारिक पुरुष 5
चर्च 103, 145
चार्ल्स शेरिंगटन 37
चावार्क 17
चीनी कम्युनिस्ट पार्टी 147
चीनी क्रान्ति 115, 114
चीनी (चीन से सम्बद्ध) 97, 105, 147
चीनी समाज 16
चेकोस्लोवाकिया 152
चोमस्की, नोम 41
चौरी-चौरा कांड 72

छल 20
छायावाद 46

जनकल्याण 71
जनजातीय 49
जनता का बहुमत 116
जनरल स्मुट्स 117
जनविद्रोह 151
जनसंहार 156
जनसाधारण 15
जनान्दोलन 116, 140

जन्मजात मनोवृत्ति 10, 43
जन्मजात प्रवृति 10
जयप्रकाश नारायण 102
जर्मन 119, 123
जर्मनी 114
जरथ्रुष्ट 85
जलवायवी 32
जाति 154
जाति-प्रथा 111
जातिवृत्तीय 35
जॉन काय 64
जापान 124, 148, 151
जारकर्म 50-51
जिअस 28
जिरोलाया सवानारोला 144
जीन पिएगेट 40-41
जी.रामचन्द्र राव (गोरा) 100
जुडेय 58-59
जुलाहा 111
जुलू 122-123
जुलू युद्ध 122
जूलियस सीजर 54
जेनी 64
जेम्स (ईसाई उपदेशक) 59
जैविक उत्पत्ति 40
जैविक अभियान 35
जैविक दाय 31
जैविक पर्यावरण 32
जैविक प्रकृति 31
जैविक संरचना 31
जैविक स्रोत 31
जोहांसबर्ग 74-75, 89, 106

ट्रांसवाल 72
टॉल्स्टाय 80, 83-84, 103-106, 193
टॉल्स्टाय फॉर्म 106
टी.एस. इलियट 112-113, 132
टैगोर (रवीन्द्रनाथ) 134-136, 138-140
ट्रस्टी 70
ट्रस्टीशिप 70
ट्राटस्की 144

डर्बीशायर 65
डरबन 72, 75, 85
डार्विन 37, 41-42
डसमंड मोरिस 34, 40
डॉ. बूथ 74
डियोजिंस 55-57
डैविड 133

द. अफ्रीका 54, 69, 75, 78, 84, 105-106, 108, 117-118
दलित 145
द लॉ ऑफ लव एंड द लॉ ऑफ वायलेंस 103
द स्टोरी ऑफ माई एक्सपेरिमेंट्स विद द ट्रुथ 102
दर्शनशास्त्र 19, 20, 100, 139
दादा अब्दुल्लाह 70
दार्शनिक सत्य 43
दास कैपिटल 89
दासता 107
दास व्यापार 61
दी न्यू इंटरप्रेटेशन ऑफ बाईबिल 84
दी परफेक्ट वे 84
दी लाइट ऑफ एशिया 82
दी सॉंग सेलेसियल (दिव्यगान) 82
दुर्भावना 44
दुर्भिक्ष 137
दुरात्मा 19
देवता 46, 49
देवदूत 46
देशभक्ति 75, 30, 135
दैवीकरण 41

दोस्तोवस्की 17, 19
द्वन्द्वात्मक पद्धति 22
द्वितीय विश्वयुद्ध 113, 119, 124, 150–151

धनिक तन्त्र 55
धरती माता 99
धर्म 6, 17–18, 23–24, 34–36, 40, 44–46, 48–49, 59–60, 70, 83, 85, 87, 91, 99, 112, 116, 133–135, 154
धर्मन्यायाधिकरण 126, 131, 134
धर्मप्रचारक 28
धर्मप्रचारक मार्क 27
धर्मप्रचारक मैथ्यू 27
धर्मशास्त्र 133
धर्मसंकट 22, 122, 132, 140–141
धर्मादेश 39, 40, 60, 133, 140
धर्माध्यक्ष 37
धर्मनिरपेक्ष 50, 145
धर्मान्तरण 50
धर्मान्ध 101
धार्मिक 20, 21
धार्मिक व्यवहार 35
धार्मिक समादेश 22
धार्मिक संहिता 48
धार्मिक सम्प्रदाय 45
धार्मिकता 6, 17
धोबी 111

नयी नैतिकता 88
नरक यातना 127
नरसंहार 18
नवजागरण 142
नवविधान 83, 99, 133
नस्ल 136, 154
नाथूराम जी 76
नारी मताधिकार आन्दोलन 109
नास्तिक 17, 21–23, 94, 99, 101–102
नास्तिक दर्शनशास्त्र 17
नास्तिकता 100–101
निजी सम्पत्ति 93
निजी सेना 125
निराशावाद 59
निरंकुशशाही 72
निर्मल कुमार बोस 129–130
निहत्था पैगम्बर 6–7, 145
नीति 6
नीतिवादी 130–132
नीत्शे 17–19, 94
नैतिक 6, 50
नैतिक अनुकूलन 69
नैतिक अराजकता 9
नैतिक आदेश 41, 141
नैतिक उत्थान 80
नैतिक उपदेश 34, 112, 122, 156
नैतिक उपदेशक 6, 10, 16, 46, 130, 144
नैतिक तानाशाही 22
नैतिक दृष्टिकोण 124
नैतिक धर्मादेश 10
नैतिक दुनिया 28
नैतिक नियन्त्रण 18, 41, 43
नैतिक निर्णय 19, 25–26
नैतिक पतन 75
नैतिक पहचान 37
नैतिक पूर्वग्रह 49
नैतिक प्रकृति 54
नैतिक प्रतिबन्ध 40
नैतिक बल 135
नैतिक मनोभाव 94
नैतिक मूल्य 6–7, 16–17, 22, 36, 46, 122, 141
नैतिक विचार 10, 81
नैतिक विषय 18–19, 43, 47, 98, 124
नैतिक व्यवस्था 27

नैतिक व्यवहार 40
नैतिक संरचना 21
नैतिक संहिता 9, 16, 18, 22–24, 40–41, 43–45, 47–48
नैतिक समस्या 68
नैतिक समाधान 6
नैतिक समावेश 34, 36
नैतिक सिद्धान्त 132
नैतिक क्षेत्र 28
नैतिकता 5–6, 9, 17, 39, 41–42, 110, 133, 138
नैतिकतावादी 94, 130, 139
नैसर्गिक अभियान 31, 36
नैसर्गिक नियम 5
नैसर्गिक वृत्ति 31, 43
नृ-कपि 121
नोआखाली 154, 118
न्याय 6
न्याय की तानाशाही 107
न्यायशास्त्र 70
न्यायसंगत युद्ध 124
न्यूटन 62

पदार्थ 28
पनशक्ति 64
परभक्षी 119
परमात्मा 21
परमेश्वर 6
परम्परा 49, 59
पराधीनता 42
परार्थवादी 37
परिवर्तनवादी समाज 24
परोपकारिता 10–11, 37–39
परोपरकारितावाद 39
पवनचक्की 64
पर्यावरण 29, 32–33, 39, 44, 47–48, 99, 108, 121
पर्यावरण सुरक्षा 98
पर्यावरणीय उद्दीपक 33
पर्यावरणीय दबाव 31, 39
पर्यावरणीय परिवर्तन 39
पश्चिमी दुनिया 20, 61, 113
पशुबल 28
पश्चिमी सभ्यता 60–61, 68, 92, 108, 136
पाप 73
पापात्मा 131
पारम्परिक मूल्य 17
पारसी 62
पारम्परिक समाज 23
पारस्परिक सम्मान 42
पावलोवियन अनुकूलन 36
पाशविक 121, 126
पॉस 86
पुटिंग आउट सिस्टम 64
पुनर्जागरण 145
पुनरुत्थानवादी आन्दोलन 134
पुराणशास्त्र 44, 129
पुरोहित 133
पुरुषार्थ 78
पूँजीपति 64
पूँजीवाद 6, 89, 113, 147
पूँजीवादी व्यवस्था 5, 89–90, 95
पूर्वज 35, 110, 121
पूर्वविधान 60
पेरिस 65
पैगम्बर 6, 10, 15–17, 24, 40, 46–50, 52, 80, 84, 94, 101, 120–121, 125–127, 129–130, 132–134, 138–146, 152, 155–156
पुनरुद्धारवादी 17
पोलैंड 119
पोलैंडवासी 119
प्रकृति 28
प्रकृति-संस्कृति द्वैत 34

प्रगतिशील 91
प्रजातान्त्रिक तानाशाही 197
प्रजाति 33, 35, 38
प्रतिहिंसा 147
प्रतिरोध 50, 104, 107, 117–118
प्रतिस्थापन 36
प्रथम विश्वयुद्ध 113–114, 123–124, 149
प्राकृतिक चयन 34, 38
प्राकृतिक व्यवस्था 24
प्राकृतिक शक्ति 27
प्राकृतिक संसाधन 6
प्रेम 28, 105
प्रेम का कानून 105
प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय 62
प्रोमेथिअस 28
प्लूटार्च 57
प्लेटो 20

फराओ 23
फरीसी 133
फाँसी 116
फॉर ए बाऊल 83
फायरबाख 102
फासीवाद 45, 112, 114, 154
फिशर, लुईस 77, 86
फैराडे 63
फोनिक्स फार्म 75
फ्रांसीसी 113, 123

बंगाल विभाजन 135
बर्फयुग 33
बहुमत 106–107
बारदोली 72
बारबेरियन 55
बाल–विवाह 77
बाल–व्यवहार 40
बन्धुत्व 17, 94
बम्बई 78
बर्कले 27
बल 20
बस्ले 113
बहुसंख्यक देशद्रोह 118
बाइबिल 60, 82–84, 94, 99, 124, 133
बाह्य दुनिया 26
बिस्मार्क 113
बिहार 111
बी.एफ. स्किनर 29–30
बी.डे. लाइट 123–124
बोअर 123
बोअर युद्ध 123
बोल्शेविक 114
बुद्ध 16, 21, 44, 47, 82, 85, 145–146
बुद्धिवाद 45
बुर्जुआकरण 40
बोधिसत्त 22
बौद्ध 21, 22, 44, 86, 99, 146
बौद्धवाद 146
ब्रदर जिरोलामा सवानारोला 144
ब्रह्म 21
ब्रह्मचर्य 76, 127
ब्रह्मवाद 81
ब्रह्मांड 18, 23, 27
ब्रह्मांड विज्ञान 22, 44
ब्राडलाफ 101
ब्रिटिश साम्राज्य 149
ब्रिटेन 60, 68, 125, 149
ब्रितानी/ब्रिटिश 16, 97, 123–125, 149, 151

भंगी 111
भगवान 40, 59, 84, 86, 130, 133
भारत 15–16, 69, 92, 108, 110, 124, 135–137, 151
भारतीय 68, 75, 105, 108, 133, 136, 138
भारतीय समुदाय 117
भावनात्मक लगाव 41
भाषा 154
भूमध्यसागरीय विश्व 54
भेदभाव 117, 133
भौतिक दाय 31
भौतिक दुनिया 20, 27–28
भौतिकवादी 85

मणिलाल 75–77
मताधिकार 109
मध्ययुग 94, 134
महात्मा 135, 154
महान कर्णधार 147
मसीहावाद 45
माई डेज विद गांधी 129
माओ त्से तुंग 16, 94, 144, 146–148
मार 44
मानव जाति 18, 28
मानवद्वेषी डियोजिंस 55–56
मानव सभ्यता 5–6
मानव समाज 5
मानवता 21, 36
मानवीय इच्छाएँ 44
मानवीय अनुभूति 28, 44
मानवीय अस्तित्व 43
मानवीय आचरण 21
मानवीयकरण 141
मानवीय चिड़ियाघर प्रभाव 33–34
मानवीय जीवन 27
मानवीय प्रकृति 20
मानवीय मन 42
मानवीय मूल्य 29
मानवीय रचना 29
मानवीय विचार 29
मानवीय व्यवहार 31–32, 34
मानवीय संस्कृति 33, 36, 39
मानवीय समाज 37
मानवीय समुदाय 43
मानवीय सम्बन्ध 71
माया 63
मारकस, ऑरेलियस 57
मार्क (धर्मप्रचारक) 27
मार्टिन लूथर किंग 87
मार्क्स 69, 89–91, 94–95, 102
मार्क्सवाद 68
मार्क्सवादी 89, 102
मार्किस दे सादे 20
मिल 69
मि. स्टोक 79
मुसलमान 84, 88
मुस्लिम 15
मुहम्मद 16, 85
मूर्तिपूजक 16, 85
मूल तत्व 21
मूल्य–परिवर्तन 148
मूसा 16, 39, 50, 144
मूसा संहिता 50
मैकियावेली 143–146, 156
मैक्सिको 107
मैथ्यू (धर्मप्रचारक) 27, 79
मैनचेस्टर 65, 82
म्ले. एम. एस. डि सेंट–सायर 28

यंग इंडिया 123, 137
यथार्थ 21
यरवदा 87
यहूदी 16, 50, 52, 58, 60, 65–66, 86, 92, 105
यार्कशायर 65
युद्ध 16, 74, 97, 108, 113, 122, 124
यूनानी 20, 56, 60, 62–63, 86, 105
यूनानी सभ्यता 55, 88

यूरोप 17, 19, 24, 61, 63, 68, 73, 95, 109, 133, 145, 149
यूरोपवासी 69, 145
यूरोपीय 81, 88, 93, 96, 148, 150
यूरोपीय संस्कृति 17, 68
यूरोपीय समाज 62
यूरोपीय सुधारक 74
यू.एस.ए. 66, 113

रम्भा 69
रस्किन, जॉन 83, 88, 90–91, 95–96
राजकोट 76
राजनीति 71
राजनीतिक सत्ता 15, 153
राजा 16
राज्यधर्म 86
रामास्वामी 101
राष्ट्र 6, 15, 146, 150, 151
राष्ट्रपिता 15
राष्ट्रमाता 15
राष्ट्रवाद 45, 149
राष्ट्रवादी 72
राष्ट्रीय प्रतिरोध 151
राष्ट्रीय सुरक्षा 151
राष्ट्रीयता 116
रेखागणित 20
रैदास 111
रूस 114, 144
रोमन 52, 54–55, 60–61, 63, 86, 105, 145
रोम 55, 58
रोमन गणराज्य 54
रोमन साम्राज्य 86, 145
रोम्या रोलां 134, 139

लंकाशायर 65
लन्दन 68, 79
लियोन ट्राटस्की 144
लिसेस्टरशायर 65
ली जस्टे 116
लुईस फिशर 76, 80, 86
लेनिन 23
लोकशाही 72
लोकतान्त्रिक आन्दोलन 148
लौकिक 9
ल्यूडाइट विद्रोह 65

वंचित 145
वंशानुक्रम 35
वर्ण–व्यवस्था 110–112
वर्णाश्रम 111
वाई.एम.सी.ए. 86
वायसराय रीडिंग 72
वार्साय 113
वाष्प शक्ति 64
वासना 129
वास्तविक दुनिया 20–21
विकास 5
विकासात्मक प्रक्रिया 39, 42
विकेन्द्रीकरण 148, 152
विचार का सिद्धान्त 20
विचारक 15
विचारधारा 6, 49
वियतनाम 150
विवेकशील लोग 5
विशेषाधिकार 123, 147
विश्रृंखलन 19–20
विश्वक्रान्ति 114
विश्वयुद्ध 113, 124
विश्व संस्कृति 136
विषयविरागवाद 57
विषयविरागी 57
विसरण 33
विज्ञान 26, 80, 91, 100, 125, 156

वी. सी. वाइने एडवर्ड्स 38–39
वेदान्ती 21
वेदान्तवादी 27
वेस्ट इंडीज 61
वेस्टलैंड 112, 132
वैराग 74
वैश्वीकरण 6
वैज्ञानिक अन्धविश्वास 15
व्यभिचार 44
व्यवहारवादी 29
व्यवहार विन्यास 31
व्यक्तिगत चयन 38
व्यक्तिगत प्रतिरोध का सिद्धान्त 107
व्यष्टि 38–39

शस्त्रीकरण 148
शाकाहार 81
शाकाहारवाद 81–82
शाकाहार समाज 85
शान्ति 156
शामन 46
शामल भट्ट 69, 83
शाश्वत प्रेम 127–128
शासक जातियाँ 18
शैतान 44, 83, 95, 127, 130
शोषक वर्ग 24
शोषण 17
श्रीमद् भागवत गीता 84
शूद्र 111
श्रेणीक्रम 147
श्वेत 63
श्वेत श्रेष्ठता 72

संगीत 26, 100
संन्यासी 76
संयुक्त राज्य 61
संयुक्त राज्य अमेरिका 18, 107, 145
संयुक्त राष्ट्र 61
संस्कृति 18, 34–35, 44, 48, 120, 136
सचेतन निर्णय 31
सत्ता 16, 22
सत्पथ 5
सत्य 6, 70–71, 76, 78, 100, 102, 118, 156
सत्याग्रह 72–73, 75, 84, 104–107, 117–118, 140
सत्याग्रह का इलहाम 83
सत्याग्रही 72, 106, 118–119
सदाचारी 131
सन्त ऐंडस मिशन 74
सभ्यता 108–109, 110, 155
समता 94
समाज 5, 22, 39, 80
समाजवाद 17, 90, 145
समाजवादी 6, 68, 89, 93
समाजवादी आन्दोलन 73, 94
समाजवादी पार्टी 114
समाज सुधार 101
समाज सुधारक 49
समादेश 40, 43, 139
सम्पूर्ण नैतिक अराजकता 9
सम्प्रदायवाद 49
सम्राट अशोक 146
सरमन ऑन दी माउंट 83, 87
सर्व आलिंगनकारी 49
सर्वशक्तिमान 62
सर्वहारा 114
सर्वाथवादी 49
सविनय अवज्ञा आन्दोलन 72, 106–107
सशस्त्र पैगम्बर 144, 156
सशस्त्र प्रतिरोध 124
सांस्कृतिक अनुकूलन 32–34
सांस्कृतिक अनुष्ठानीकरण 35
सांस्कृतिक आन्दोलन 148

सांस्कृतिक क्रान्ति 94
सांस्कृतिक प्राणी 6, 10, 33, 37, 43, 48
सांस्कृतिक विकास 35-36
सांस्कृतिक व्यवहार 36
सांस्कृतिक हस्तक्षेप 34
साइरस 144
सामाजिक इकाई 36
सामाजिक आचार 39
सामाजिक जीवन 102
सामाजिक तन्त्र 43
सामाजिक नियन्त्रण 41
सामाजिक नियम 36
सामाजिक बुराई 104
सामाजिक भेदभाव 111
सामाजिक माँग 44
सामाजिक सम्बन्ध 24
सामाजिक विकास 49
सामाजिक व्यवस्था 24, 73, 93
सामाजिक स्वस्थता 141
सामाजिक संसक्ति 35
सामाजिक संहिता 39
सामाजिक स्वामित्व 90
सामान्य जन 5
सामुदायिक रक्षा प्रतिक्रिया 36
साम्प्रदायिक 16, 49, 155
साम्प्रदायिक संघर्ष 155
साम्यावस्था 42, 52, 82
साम्यवाद 22, 45-46, 154
साम्यवादी 59, 114, 148
साम्राज्यवादी प्रभुत्व 149
साम्राज्यवादी शक्तियाँ 152
सार्वभौमिकतावादी 102
साहित्य 21, 26, 134
सिकन्दर 55-57
सीजरवाद 55
सुखवाद 54
सुखवादी 29
सुधारक 73
सुपर इगो 34
सूर्योपासक 86
सेक्स 129
सैन्यवाद 114
सैन्यशाही 72
सोलोमन 100
सोवियत बल 152
सोवियत संघ 18, 93, 113
सोशलिस्ट इंटरनेशनल 113
स्कॉलेस्टिक दर्शन 86
स्किनर 30
स्टारयुद्ध 19
स्टीपेन 116
स्तनधारी 39
स्तालिन 29, 144
स्माल इन ब्यूटिफुल 96
स्वतन्त्रता 125
स्वदेशी आन्दोलन 139
स्वराज्य 92
स्वर्ग 51

हरिजन 119, 124, 151
हरिलाल गांधी 77
हिंसक आन्दोलन 116
हिंसक जोश 37, 36
हिंसा 55, 74, 104-105, 114-115, 123, 140
हिटलर 18, 29, 113, 119
हिन्दुत्व 88
हिन्दू 15, 88
हिन्दू धर्मशास्त्र 84
हीरो 62
हीरो एंड हीरो वार्शिप 84



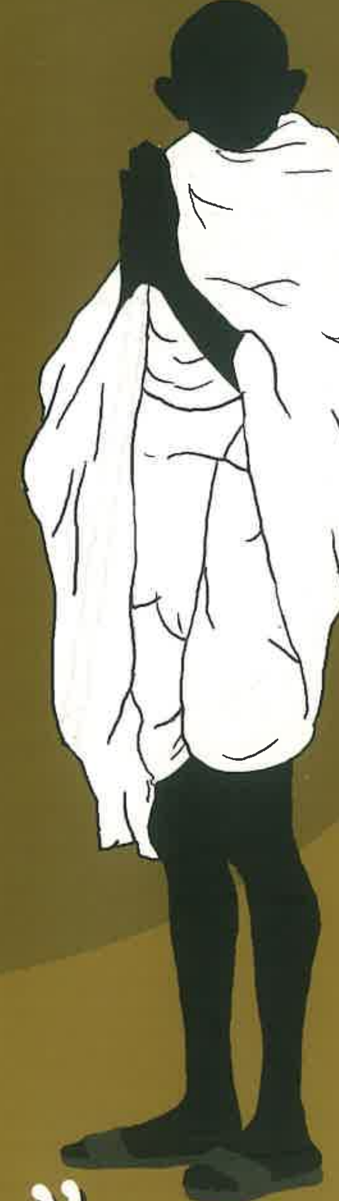
सच्चिदानन्द सिन्हा वरिष्ठ समाजवादी विचारक हैं। समाजवादी आन्दोलनों में अपनी सक्रिय भागीदारी निभाने के साथ-साथ विभिन्न विषयों पर इन्होंने अपनी कलम भी चलायी है और दर्जनों पुस्तकें लिखी हैं। डॉ. राममनोहर लोहिया द्वारा सम्पादित *मैनकाइंड* तथा किशन पटनायक द्वारा सम्पादित *सामयिक वार्ता* के क्रमशः सम्पादक मंडल सदस्य तथा सम्पादकीय सलाहकार रहे। तमाम प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में इनके लेख प्रकाशित होते रहे हैं। इनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं : *सोशलिज्म एंड पावर; केओस एंड क्रिएशन; कास्ट सिस्टम : मिथ, रियलटी एंड चैलेंज; इंटरनल कॉलोनी; कोएलिशन इन पॉलिटिक्स; पूँजीवाद का पतझड़; संस्कृति विमर्श; मानव सभ्यता और राष्ट्र राज्य; संस्कृति और समाजवाद; भारतीय राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता*। **पता :** ग्रा. व पो. मनिका, जिला - मुजफ्फरपुर, बिहार-845431

❁ ❁ ❁

अनुवादक **रामजय प्रताप** पेशे से वकील होने के साथ, एक सामाजिक कार्यकर्ता भी हैं। इनके लेख व अनुवाद अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। सच्चिदानन्द सिन्हा की कुछेक अँग्रेजी पुस्तकों का इन्होंने हिन्दी अनुवाद किया है। उस श्रृंखला में यह तीसरी अनूदित पुस्तक है। **सम्पर्क** - ग्रा. व पो. चैता, जिला पूर्वी चम्पारण, बिहार-845414। **मो.** 09470233861

गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति
(स्वायत्त निकाय, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार)

निहत्था पैगम्बर
सच्चिदानन्द सिन्हा



निहत्था पैगम्बर

सच्चिदानन्द सिन्हा

अनुवाद : रामजय प्रताप